THE PSALM OF SOUL

Constant ! Wishless ! Absolute ! Free
Knower ! Seer ! Soul is Me

I am what Supreme Being is,
What myself is that God is,
With this sole apparent difference,
Here–"Passions", there–"Indifference"

My real Self like Siddhas is
Infinite Power ! Knowledge ! and Bliss !
Losing knowledge, being aspirant
I am left a beggar—ignorant

None else bestows pain amd pleasure,
'Love' and 'Anger' are grief's treasure,
"Self" from "Non-Self" distinguish,
And then, there is on anguish.

Whose name Buddha, Rama, Ishwer, Jina
Brahma, Vishnn Hari, or Shiva,—
Leaving passions, reach "the Goal"
No distress then in the Soul

World does function by itself,
What work of it does my self ?
Alien influence ! Do get away !
In Bliss for e'er may I stay !!

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की शुभ नामावली

१ श्री ला० महावीर प्रसाद जी बैंकर्स सराफा मेरठ सदर २००१)
२ श्री कृष्णचन्द जी जैन १८ तिलक रोड, देहरादून ११११)
३ श्री मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन पुरानी मण्डी मुजफ्फरनगर १००१)
४ श्री प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन प्रेमपुरी मेरठ सिटी १००१)
५ श्री सलेकचन्द लालचन्द जी जैन [illegible] मुजफ्फरनगर ११०१)
६ श्री दीपचन्द जी जैन रईस झण्डा बाजार देहरादून ११०१)
७ श्री बारूमल प्रेमचन्द जी जैन कुल्हड़ी बाजार मसूरी (देहरादून) ११००)
८ श्री बाबूराम जी मुरारीलाल जी जैन ज्वालापुर (सहारनपुर) १००१)
९ श्री केवलराम उग्रसैन जी जैन स्वस्तिका मेटल वर्क्स जगाधरी १००१)
१० श्री गेंदामल जी दगड़ूसाह जी जैन सनावद (म० प्र०) १००१)
११ श्री मुकुन्दलाल जी गुलशन राय जी नई मण्डी मुजफ्फरनगर १००१)
१२ श्री बा० कैलाशचन्द जी जैन देहरादून १००१)
१३ श्री हरीचन्द ज्योतीप्रसाद इटावा १००१)
१४ श्री जयकुमार जी वीरसैन जी सराफ सराफा मेरठ सदर १००१)
१५ श्री मनोहरलाल जी जैन पाण्ड्या झूमरीतिलैया (हजारीबाग) १००१)
१६ श्री सेठ फतेहलाल जी (रि०) [illegible] जयपुर १००१)
१७ श्री मंत्री जैनसमाज खण्डवा (म० प्र०) १००१)
१८ श्री बाबूराम अकलंक प्रसाद जी जैन [illegible] १००१)
१९ श्री सेठ गजराज जी गंगवाल झूमरी तिलैया १००१)
२० श्री सुखबीरसिंह हेमचन्द जी जैन सराफ बड़ौत (मेरठ) १००१)

*२१ श्री फूलचन्द बैजनाथ जी जैन नई मंडी मुजफ्फरनगर १०

*२२ श्री सेठ जुगलकिशोर शीतल प्रसाद जी जैन मेरठ सदर १०

*२३ श्री सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी बडजात्या जयपुर १०

*२४ ला० दयाराम जी जैन S. D. O. टकी मौहल्ला मेरठ सदर १०

*२५ श्री मुन्नालाल यादवराय जी जैन टकी मौ० मेरठ सदर १०

*२६ श्री ला० जिनेश्वर प्रसाद अभिनन्दनकुमार बजाज सहारनपुर १०

+२७ ला० जिनेश्वरदास श्रीपाल जी जैन ३१ लोअर बाजार शिमला १०

+२८ ला० बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन मिडिल बाजार शिमला १०

उक्त सदस्यो मे से जिन नामो के आदि मे * यह निशान लगा उनके कुछ रुपये आ गये बाकी आना है। जिन नामो के आदि में + निशान लगा है उनके रुपये अभी नहीं आये सभी रुपये इनके नाम हैं। सबके रुपये पूरे आ चुके हैं।

सहजानन्द डायरी सन् १९५६

चित्सस्तवनम् — (१५-१२-५५ की भक्ति) स्थान जबलपुर (तोटकवृत्ते) । प्रभजामि शिव चिदिद सहजम् ।

शिवसाधनमूलमज शिवद, निजकार्यसुकारण-रूपमिदम् । भवकानन-दाहविदाहहर, प्रभजामि शिव चिदिद सहजम् ॥१॥ भवसृष्टिकर शिव-सृष्टिहर, शिवसृष्टिकर भवसृष्टिहरम् । गतसर्वविधानविकल्पनय, प्रभजामि शिव चिदिद सहजम् ॥२॥ शिवसृष्टचकर भवसृष्टचहर, भवसृष्टचकर शिवसृष्टयहरम् । गतसर्वनिषेधविकल्पनय, प्रभजामि शिव० ॥३॥ परिणाम-गत परिणामरह, परिणामभव परिणामयुतम् । उपपादविनाशविकल्परह, प्रभजामि शिव चिदिद सहजम् ॥४॥ स्वचतुष्टयमूलमभिन्नगुण, मतिदर्शन-शक्तिसुशर्मसयम् । अचल शिवशकरदृष्टिपथ, प्रभजामि शिव० ॥५॥

— ० — ० —
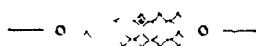
ता० १-१-५६

आज शाहपुर (सागर) आया । आत्मस्वरूपका बोध न होनेसे बाह्यमें धर्माचरण भी किया जावे तो भी अनतानुबधी विकारके होने से आचरणमे कभी इतनी विषमता हो जाती है कि बाह्य प्रवृत्तिमें भी जमीन आसमान जैसा अन्तर हो जाता है । इस ग्रामके वधु बडे ही धर्मात्मा सज्जन है । सारी जनता इस समाजको धर्मात्मा जानती है ।

ता० २-१-५६

आज शामको शाहपुरसे बमाना पहुचे । यह ग्राम जगली रास्तासे १३ मील दूरीपर है । यहाकी समाजके बालक यद्यपि शहरी सभ्यतासे शून्य है तथापि नैसर्गिक विनयशील है । इन अज्ञानी बालकोको

धर्मसस्कृत पढनेका यदि साधन प्राप्त हो तो इनमें से विरले ऐसे बालक निकलेंगे जो समाजके सत्पथदर्शक होकर अपना कल्याण करेंगे ।

आत्मकल्याणार्थी यदि बहुसगमें रहे तो बहुविकल्पता होती है और यदि एकाकी रहे तो कुछ अन्य प्रकारके विकल्प या आपत्ति हो सकती है, अत आज कल कल्याणेच्छुवोको न बहुसग बनाना चाहिये और न एकाकी रहना चाहिये ।

ता० ३-१-५६

आज साय ३॥। बजे रेशदीगिर पहुचे, साय ४ बजेसे ५ बजे तक वदना की । पुन सामायिकके बाद छात्रगण, अध्यापकगण आदि की सभा हुई । विद्यार्थीके कर्तव्य इस समय ३ है-विनय, विद्याभ्यास व ब्रह्मचर्य । गुरु शिष्य का सम्बन्ध ही हितकारी सम्बन्ध है अन्य सम्बन्धोसे चित्त चैन में नहीं रहता इसका कारण विकल्प है, विकल्प दु ख स्वरूप होन से वस्तुत शत्रु होकर भी बने रहते हैं इसका मूल सकल्प है। सकल्प अवास्तविक होनेसे आत्मामें टिकना नहीं चाहिये था, फिर भी टिकता रहता है इसकी जड अविद्या है अत अविद्या को दूर किये बिना चैन नही हो सकती ।

मै ज्ञान स्वरूप हू, चैतन्य मात्र हू, ध्रुव हू सबसे अपरिचित हू, ज्ञान व आनन्दका पिण्ड हू, अपनी सृष्टि करनेवाला हू, असृष्टिरूप हू, स्वत सिद्ध हू, अविनाशी हूँ, प्रतिभास मात्र वृत्तिसे गम्य हूँ, निजकी सब पर्यायोमें गत हूँ, पर्यायोसे भिन्न स्वरूप हूँ, अमूर्त हूँ, कर्मसे अत्यन्ताभाव वाला हूँ, ज्ञायक स्वरूप हू । बार बार ऐसे निजतत्त्वकी भावनासे बादमें निर्विकल्प समाधि परिणामसे अविद्याका उच्छेद हो जाता है ।

ता० ४-१-५६

प्रात काल ८॥ बजे से ९॥ बजे तक वदना की । पहिला मन्दिर जिसमें बडी मूर्ति है व मन्दिर बन रहा है, उसका ताला बन्द था व आगे के ताले खुल रहे थे, एक बावाने जो धूनि रमाये वही

रहता है ताला खुलवाया/वह रोज दर्शन करता है. कैसा दर्शन करता है, सो विशिष्ट ज्ञानी स्पष्ट जानें। मुझे यह भ्रम है कि वह इस लिये रोज दर्शन करता है कि कभी अवसर पाकर मूर्तिको खडित करदिया जावे।

मनुष्यके मानकषायकी मुख्यता है अत मान सन्मान कीर्ति प्रतिष्ठा-के चक्करमे विकल्पक रहता है सो विकल्प भार हटाना भी नहीं चाहता ह। आत्मज्ञानीको ये सब विकार उपसर्ग मालूम होते है।

आज ग्रामको दलपतपुर पहुचा। यहा रात्रिको एक पाठशाला चलती थी वह बन्द है। धार्मिक अभ्युत्थानकेलिये सर्वत्र इसकी आवश्यकता है कि २ घन्टे धर्मशिक्षाका कार्यक्रम रहे। जैन धर्मसा श्रेष्ठ धर्म तृष्णावाली समाजके पल्ले पड गया है, कलिकालके अन्तमे धर्म व्यवहार भी नष्ट हो जायगा इसका यह सूत्रपातसा मालूम होता है। जो धर्म एक ही जातिमें सीमित हो जाता है वह प्रस्तृत नहीं हो सकता और उसके माननेवाले भी सकुचितचित्तताकी प्रकृतिकी अनिवार्यता होनेसे इस सस्कारके कारण इन्द्रियनिग्रहकी तपस्या करलेनेपर भी आत्मसस्पर्शसे प्राय वञ्चित हो सकते हैं।

ब्राह्मण क्षत्रिय आदि सभी जैनधर्मको पालते होते तो श्रावक और त्यागियोमें सकुचितचित्तता का आवरण नहीं रहता। अस्तु ! आजके जैन कहते तो जरूर हैं कि जैन धर्म सबका धर्म ह परन्तु ऐसा रूप देनेकी उनकी कोई नीति नहीं है। इस बातका अनेकोको खेद है। जो जैन नहीं थे ऐसे विद्वानो को येन केन प्रकारेण जैन साहित्य मिलता तो उन्हे यह बडा आश्चर्य होता कि इतनी अमूल्य निधिका विश्वके विद्वानोको परिचय नहीं हो सका जबकि पच्चीस पचास रु० का साहित्य देना और कुछ जनरल व्यवहार होना ही पर्याप्त साधन था।

ता० ५-१-५६

आज प्रात ९॥ बजे बडा पहुचे। रास्तेमें अजैन विद्यार्थी मिले। विद्यावार्ताके पश्चात् उनके चरित्र-विषयक प्रश्न हुए, तो

मासभक्षणकी हानिया सुनकर तीनोने आजन्म मासभक्षणका याग किया। ससारका विजय आत्मज्ञानके विना कठिन ही नहीं किन्तु असभव है। विषयोकी इच्छा और कषायोकी वृत्ति ही ससार है। ज्ञानस्वरूप निज आत्मतत्त्वकी झलक विना हाय वेरोकटोक वेलगाम वाह्य अर्थोमें परभावोमे एकदम उपयोग जुड वैठा है, हितके सम्बन्धमें रहा कहा वुद्धि दौडाई जाती है। सव दु खोका मूल मिथ्यात्व है।

चित्त चैनमें नही रहता इसका कारण विकल्प है। विकल्प दु ख स्वरूप होनेसे वस्तुत शत्रु होकर भी वने रहते है इसका मूल सकल्प है। यह अवास्तविक होनेसे आत्मामें टिकना नही चाहिये था, फिर भी टिकता रहता है इसकी जड अविद्या है। अत अविद्याको दूर किये विना चैन नही हो सकता।

मै ज्ञानस्वरूप हू, चैतन्यमात्र हू, ध्रुव हूँ, सवसे अपरिचित हूँ, ज्ञान व आनन्दका पिण्ड हूँ, ज्ञानगम्य हूँ, अपनी सृष्टि करनेवाला हूँ, असृष्टिरूप हूँ, स्वत सिद्ध हूँ, अविनाशी हूँ, प्रतिभासमात्रवृत्तिसे गम्य हूँ, निजकी सव पर्यायमें गत हूँ, पर्यायोसे भिन्नस्वरूप हूँ, अमूर्त हू, कर्म नोकर्मसे अत्यन्ताभाव वाला हू, ज्ञायकस्वरूप हूँ। वार वार ऐसे निजतत्त्वकी भावनासे वादमें निर्विकल्प समाधि परिणामसे अविद्याका उच्छेद हो जाता है।

ता० ६–१–५६

आज १०॥। वजे वडासे चले सोरईके पास जगल में ११॥। वजे सामायिक प्रारम्भ की। वडा व सोरईके वीचमे एक मिलिटरी मोटरसे एक महिलाका एक्सीडेन्ट हुआ सो कुछ लोग अपनेको निरपराध प्रमाणित करनेके यत्नमें थाने को गये। जगत विचित्र है होना भी चाहिये, क्योकि यह साहजिक परिणमन नहीं। अद्वैतवादी कहते है कि ब्रह्म एक है नाना उपाधिके आश्रयसे वह ब्रह्म नानारूप दीखता है। इस विषय को ऊर्द्ध्वता सामान्य और ऊर्द्ध्वता विशेष' पर दृष्टि रख कर सोचिये। जैसे मै यह आत्मा (ब्रह्म) एक हूं नाना कर्मरूप उपाधिका

निमित पाकर जब तक इसका परिणाम हे नाना रूप है वह ! यहा यदि उस नानात्व पर दृष्टि न दें और स्रोतरूप अद्वैतपर दृष्टि दे तो उसके अविद्याका उच्छेद हो जाता है।

लोकमें आराम प्रतिष्ठा चाहना सबसे अधिक गजबका चक्कर हे। वाह्य दृष्टि ही अन्तस्तत्त्व, दर्शनकी बाधिका है। खुदकी क्षणिक पर्यायकी वुद्धि ध्रुव स्वभावके दर्शन नही होने देती। तिलकी ओट पहाड ढक जाता हे। क्षणिक परिस्थितिकी दृष्टिकी ओटमे चैतन्य महाप्रभु ढक जाता।

आज शामके ४। बजे कर्रापुर पहुचे। अतरगकी पहुँच बिना कल्पित वाह्यकी पहुँच आत्मलाभसाधक नही है। मै ज्ञायक स्वरूप हूँ इसका बार बार प्रतिभास करना अतरगकी पहुँचका साधन है। हूँ स्वतन्त्र, निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतम राम।

ता० ७-१-५६

सत्सगति अथवा अत्यत एकान्त निवास सर्वोपरि वाह्य साधन है। अत्यत एकान्त निवासकी सफलताका लक्ष्य अध्यात्मयोगपर निर्भर हे। सत्सगतिकी सफलता सनम्र मुमुक्षु बन कर रहनेमें है।

एकस्थाननिवास व पर्यटन दोनो मुमुक्षुके अच्छे साधन हैं। एकस्थान-निवास तो तब अच्छा है जब सस्थाओकी झझट न रह कर ज्ञानोपासना का प्रचुर साधन बना रहे। पर्यटन तब अच्छा है जब वहुत दूर पर शीघ्र पहुँचनेका प्रोग्राम न रख कर आरामसे ५-५ मील करीबका आवास रक्खे और साथ ही ज्ञानियो का सत्सग रहे जिनका आरम्भ व परिग्रह स्वल्प हो।

किसी जातिविशेषमे अपना आवास सकुचित कर लेना प्राय आत्म-शोधन व उदारतामें विघ्न कर लेना है। आत्मन ! कही कुछ सार नही हे सर्व विकल्प छोड अपने निर्विकल्प स्वभावकी ओर आ और उसीमें लीन रह। तेरा साथी कोई नही, जगत तेरा कुछ नही। कोई भी तुझे जानता नही, जिसे जानते वह तू नही। तेरा न नाम है न मूरत है। तेरा

न यहा काम है न कीरत हे। तू तू ही है अन्य नहीं। अन्य अन्य ही है तू नहीं। किसीके परिणमनोमे न रच सुधार ह न रच विगार है।

तू अपनी लेखनी चलाये जा अशुभोपयोगसे बचनेकेलिये। यहा भी तू लेखनी नहीं चला रहा हे, मात्र हितका अनुराग कर रहा है, इस अनुराग से इच्छा हुई, इच्छासे आत्मपरिस्पद हुआ, उसको निमित्त पाकर शरीर वायुका सचार हुआ इससे इच्छानुसार हाथ चला, क्योकि मूल इच्छासे सबका प्रारभ हुआ था, हाथ चलनेके निमित्तसे सयुक्ता लेखनीकी क्रिया हुई उससे सयुक्त पेन्सिल चली और जिस प्रकार चली इस प्रकार यह रग फैला।

ता० ८-१-५६

तू सद्वचन बोले जा अशुभोपयोगसे बचनेकेलिये। यहा भी तू शब्द नहीं बना रहा, मात्र हितका अनुराग कररहा ह, उस अनुरागसे इच्छा हुई, इच्छासे आत्मपरिस्पन्द हुआ, उसको निमित्त पाकर शरीरवायुका सचार हुआ उससे इच्छानुसार कठादि स्थानोकी क्रिया हुई, क्योकि सबसे मूलमें इच्छा थी, उसको निमित्त पाकर भिन्न जातिकी भाषावर्गणाके स्कधोका शब्दरूप परिणमन हुआ। तू दया, भक्ति, ज्ञान-प्रचार आदिके शुभोपयोग किये जा अशुभोपयोगसे बचनेकेलिये यहा भी तू दूसरेकी भक्ति दया नहीं कर रहा है और न दूसरोको ज्ञान दे रहा है। निश्चयत तू सनातन ध्रुव ज्ञायकस्वभाव हे परम पारिणामिक भावरूप है, कर्तृत्व भोक्तृत्वसे रहित हे, तथापि वस्तुगत व्यवहारत निजयोग्यतायुक्त अपने आपमें शुभ रागके विपाकका उपयोग कर रहा हे। अन्य वार्ता द्वैतावमत व्यवहारमात्र हे।

आज शाम को ३॥। वजे सागर पहुचे। समागत जनसमुदायमें परिचित बन्धुओका व बाल्य शिक्षा गुरुद्वय (श्री प० दयाचन्द जी स्याद्वा-दवाचस्पति वादरी वाले व श्री प० माणिक्य चन्द्र जी न्यायतीर्थ शाहपुर वाले) का मिलन पाकर हर्ष हुआ। विद्यार्थीकालके अनेक स्मरण हुए।

विद्यार्थी जीवन एक बहुत अच्छा जीवन है, यदि स्वहितकामना भी हो जावे तो अनुपम ही है।

ता० ९–१–५६ कर्तव्यसमयविभाग

४॥ बजे से ५॥ तक समयसार या प्रवचनसार का पाठ
५॥ बजे से ७ बजे तक सामायिक, प्रतिक्रमण
७ से ८। तक पर्यटन, शुद्धि वन्दना
८। से ९ तक प्रवचन
९ से ९॥। तक पाठन
९॥। से १० तक शुद्धि स्नान
१० से ११॥ तक सभावित भुक्तिपान, आवाम, विश्राम
११॥ से १२॥ तक सामायिक
१२॥ से २ तक लेखन
२ से ३॥ तक स्वाध्याय अष्ट सहस्त्री, धवला
३॥ से ४। तक पाठन
४। से ५ तक शका समाधान
५ से ५॥। तक सेवा
५॥। से ६॥। तक सामायिक
६॥। से ७। तक विश्राम, चिन्तन
७। से ८ तक स्वाध्याय
८ से ८॥। तक प्रवचन या चर्चा
८॥। से ९। तक धार्मिक वार्तालाप
९। से ४॥ तक विश्राम, भावना, शयन

ता० १०–१–५६

आज कोमलचन्द जौहरीके आहार हुआ यह सरल स्वभावी बालक है। आहार पश्चात् मोराजी विद्यालयके छात्रोको फलाहार करानेकी भावना प्रकट की। विद्यालयमें छात्र इस समय २०० से

कुछ ऊपर हैं। सागर धर्मका अच्छा क्षेत्र हे। सागरकी महिलावोका भी धार्मिक ज्ञान विशेष हे। इस प्रातमें जो बचपनमे धार्मिक विद्या पढ लेते वे तो ठीक हैं। परन्तु अन्य युवक धर्मश्रद्धासे तो दूर हे किन्तु धार्मिक ज्ञानवृद्धिकी ओर प्रयत्न भी नही करते। इस प्रातके विद्वान पडित अधिक सख्यामें ह। मेरे ख्यालसे वर्तमानमे भारतमें जितने पडित हैं उनमें आधे या इससे अधिक बुन्देलखड प्रातके पडित हैं।

प्रश्न--अनादि मिथ्यादृष्टि जीवको सबसे पहिले सम्यकत्व किस गतिमें होता है? उत्तर-किसी भी गतिमें हो सकता हे।

आत्मा आत्मा ही हे, अन्य अन्य ही हे। आत्माका आत्मा ही हे, खुदका खुद ही है। ज्ञायकका ज्ञायक ही हे। दर्शकका दर्शक ही हे। ज्ञायक ज्ञायकका ही हे। दशक दशकका ही है। अपोहक अपोहकका हो है। अपोहकका अपोहक ही है। त्यागीका वही त्यागी हे। त्यागी उसी त्यागीका ही हें। त्याग भावका ही त्यागी हे। त्यागीका ही त्यागभाव हे। त्यागी और त्याग उस कालमें अभिन्न हैं। त्यागी और त्याज्य अनादिसे ही इसी रूपमें अवस्थित है। जिसका त्याग हे उसका त्रिकालमें भी ग्रहण नही। जिसका ग्रहण हे उसका त्रिकालमे त्याग नही।

ता० ११-१-५६

मनुष्यभव पानेका लाभ यह हे कि योग्य ज्ञान प्राप्त करके आध्यात्मविद्याद्वारा निज शुद्ध तत्वका अनुभव कर लेना। सभी आत्मा स्वय कारण परमात्मा हे। इसही निजकारण परमात्माको उपादान करके जो सहज परिणमन होता हे वह धर्मका विकास है और धर्मका फल हे। यह अनुपम शातिकी अवस्था होती है।

आत्मन्! तेरा स्वभाव चैतन्य है, ज्ञान दर्शन हे। दर्शनका परिचय सम्यग्दर्शन है। ज्ञानकी निश्चलवृत्ति सम्यक्चारित्र है। विपरीत अभिप्राय व कषाय तेरे स्वभावसे उठकर नहीं होते मात्र विकार है। दर्शनके विषय की प्रतीति होना या न होना आत्मामें होता हे सो उस शक्तिका नाम श्रद्धा

है। ज्ञानकी निश्चलवृत्ति होना या न होना आत्मामें होता है सो उस शक्तिका नाम चरित्र है। ज्ञानकी अनिश्चलतामें अनेक रूप प्रकट होते हैं उनका नाम कषाय है। दर्शनके लक्ष्यके अपरिचयमें अनेक आशय प्रकट होते हैं उनका नाम मिथ्यात्व है। दर्शनके लक्ष्यके अपरिचयमे मोक्षमार्गका कुछ भी पुरुषार्थ नही बन सकता। दर्शनके लक्ष्यका परिचय होनेपर ज्ञानकी अनिश्चलता भी रही आवे तथापि ज्ञान जाननपनेका काम करता है। ज्ञानकी अनिश्चलतारूप अनेक विभाव होते है उनका तू कर्त्ता नहीं, क्योंकि तू चैतन्य है। हा उन विभावोको तू उपयोगभूमिमें आश्रय देगा तो तू कर्त्ता होवेगा। साधारणतया तू अपनेमे होने वाली सभी परिणतियोका कर्त्ता है। लाक्षणिकतया मिथ्यात्वमे तू विभावका कर्त्ता है। मिथ्यात्वके ध्वसके पश्चात् अकर्ता है। अथवा आत्मा कषायका कर्ता नही कषायपर उपयोग लगानेका कर्ता है। जो कषाय पर उपयोग लगाते है वे कर्ता है जो कषाय-पर उपयोग नही लगाते वे अकर्ता है।

ता० १२-१-५६

उपयोग ज्ञानकी परिणति है अत उपयोगका कर्ता आत्मा होता है। जो बात बुद्धिपूर्वक होती है उसका कर्ता आत्मा है, जो बुद्धि-पूर्वक नही होती उसका कर्ता आत्मा नही। इस अन्यायसे मिथ्यादृष्टि कर्ता है और वह भी विपरीत अभिप्राय करनेका और कषायपर उपयोग देनेका। योगका भी कर्ता आत्माको उपचारसे कहा है क्योकि योग चैतन्य की वृत्ति नही है। जब जीव योगपर उपयोग देता है तब वह योगका कर्ता है। अबुद्धिपूर्वक योग होते है उनका कर्ता आत्मा नहीं। साधारणदृष्टिसे तो जो कुछ आत्मा में होता है सभी का कर्ता आत्मा है जैसी कि व्यवस्था जड पदार्थमें भी है कि घडेका कर्ता मिट्टी है कडेका कर्ता सुवर्ण है आदि।

१—जो लडकोकी तारीफके रूपसे पिताकी प्रशसा करता है उसका अर्थ है कि लडके ही अच्छे है बाप तो पूरा बुद्धू है। २—जो धनकी बात कहकर कल्पित धनीकी प्रशसा करता है उसका अर्थ है कि धनकी ही पूछ

है यह तो बेकाम है। ३-जो प्रासादो (मकानो) की कल्पनावोके वर्णनमे मालिककी प्रशसा करता है उसका अर्थ है कि जड पदार्थोमें भी कला है किन्तु यह तो कलाशून्य बुद्धिशून्य ही है। ४-जो पुरखोकी प्रशसा द्वारा ही किसीकी प्रशसा करता है उसका अर्थ है यह इस कुलमें कुपूत हुआ है।

प्रश्न-स्थितिकाण्डकघात व अनुभागकाण्डकघात मिथ्यादृष्टिके होते है कि नहीं ? उत्तर-अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरणवर्त्ती सातिशयमिथ्यादृष्टिके अतिरिक्त किसी भी मिथ्यादृष्टिके स्थितिकाण्डकघात व अनुभागकाण्डक-घात नहीं होते।

ता० १३-१-५६

लोकमें गालीके शब्दोका प्रादुर्भाव हुआ ही नहीं। किन्तु प्रशसाकारक शब्दोको जब अति अयोग्य पुरुषोसे कहा गया तो अयोग्य पुरुषोने व अन्य लोकोने उसे गाली समझी। जिसे लोक गाली समझते हैं उन शब्दोके अर्थपर ध्यान दें तो वह प्रशसाका शब्द ही ज्ञात होगा।

गाली–कीर्ति या स्तुति गाली

नगा–नग्न —निष्परिग्रह निर्ग्रन्थसाधु

लुच्चा-लुञ्च –केशोका लोंच करनेवाला (साधु)

पुगा–पुगव —श्रेष्ठ, अतिश्रेष्ठ

लफगा–लफ गये–नम्र हुए हैं अग जिसके याने विनयशील

पट्ठा–पट्ट — प्रधान पुरुष

घटाल–घण्टालु घण्टयति प्रेरयति हिते इति घण्टालु, जो हितकार्यमें प्रेरणा करे (गुरु–घटाल)

मेतर–महतर–बडो (महान्) में भी बडा

निर्लज्ज–लज्जा कषाय रहित–योगी

भगत–भक्त–प्रभुका भक्त

निपोरा–पोर (खण्ड) रहित याने अखड

निपोचिया–स्वयमें जिसकी अच्छी पहुच हो।

धीठ–धीष्ठ–बुद्धिमें ठहरा हुआ (बुद्धिमान्)।

उचक्का–उच्चक –ऊंचा महा पुरुष।

ऊधमी–उद्धर्मी–उत्कृष्ट धर्मवाला।

साला–शाल –अपनी रक्षा के लिए स्वयं कोट स्वरूप जहांकि आत्मा सुरक्षित है।

ससुरा–सस्वर —उत्तम स्वर वाला।

पाजी–पापको जीतने वाला (पापको नष्ट करने वाला)।

गँवार–ग्रामारि–इन्द्रियग्रामका वैरी (इन्द्रियविजयी)।

वरेदी–वरेन्द्र–श्रेष्ट इन्द्र (स्वामी)।

गधा–गदहः गद हतीति गदहः जो गद-रोग-ससार रूपी रोगको हने याने नष्ट करे।

सोधिया–शुद्धिपूर्वक रहने वाला (पवित्र)।

कगीरा–क गिरति, क-आत्माको जो बतावे।

कगला–क अग-ल, क याने आत्माके अङ्ग याने उपायको जो करे।

निटल्ला–निष्ठाल –निष्ठा (श्रद्धा) को लानेवाला।

पागल–पा याने पापको गलाने वाला (नष्ट करने वाला)।

धन्नासेठ–धन्य श्रेष्ट , जो धन्य है व श्रेष्ठ है।

वेकार–जिसको कोई कार्य करनेको नहीं पडा (कृतकृत्य)।

भुक्कडा–भिक्षक,–भिक्षावृत्तिसे आहार लेनेवाला साधू।

धमगा–धर्मा ग –धर्म ही जिसका शरीर है।

नालायक–ससार जालके जो अयोग्य हो (सम्यग्दृष्टि)।

उल्लू–उत्कर्षेण कर्म लुनाति, जो कर्मकी निर्जरा करे।

चुगला–जिसके चार गले या मुख हो (प्रभु)।

जानवर–जान याने ज्ञानमें वर याने श्रेष्ठ (विद्वान)।

ढोकीआख–धीर्केकाक्ष-बुद्धिही जिसकी एक आख है।

ऐसीकी तैसी–आत्माकी शुद्ध प्रकृति ऐसी है सो उसकी वैसी ही परिणति हो जावे ऐसी भावना बनना।

चाली–परिणमनशील।

शूकर–श्रूक (दया) से राजमान अर्थात् शोभायमान।

दाँती–दांती-जिसका आत्मा दांत है याने इन्द्रिय दमन करने वाला।

मानधाता–सन्मानकी पालना करने वाला

देहाती–देहान्ती-देहका अन्त (अभाव) करने वाला, सिद्ध।

खशम–ख-इन्द्रियका शमन करनेवाला।

कायर–कस्य आयेन राजते इति कायर। क आत्माकी उपलब्धिसे। राजमान याने शोभायमान।

लुक्का – लोकक –लोक (प्रजा) के क (ब्रह्मा) अर्थात् प्रजा का सुधारने वाला आदर्श नेता।

षडा–षड–इन्द्र।

मुसडा–मषड-म (शिव-मोक्ष) के षड याने इन्द्र (स्वामी)।

चगा–चग –सुन्दर, चतुर।

पिदोला–प्रेमदोला-प्रेम की डोली याने प्रेमी।

चटू–वटु–प्रिय बोलने वाला।

पटू–पटु–चतुर।

बुझक्कड–बुद्धयाकर-बुद्धिकी खान (बुद्धिमान पुरुष)।

दडी–इन्द्रियोंका दमन-दड करने वाला।

कुलच्टी–कुल अच्छ यस्य स कुलच्टी, अच्छे कुलवाला।

निकम्मा–निष्कर्मा-कर्म रहित-सिद्ध

बदमास–स इति मा वद-अन्यकी चर्चा मत करो।

जनमा–जनि-जन्मसे म-शून्य-जन्मरहित

पाखडी–पापका खडन करने वाला (मुनि)।

भजन

मेरा शरण समयसार दूसरा न कोई।

जा प्रसाद कार्य समयसार सिद्धि होई ॥टेक॥

अविनाशी ब्रह्मरूप अविचल अज चित्स्वरूप ।
शुद्ध बुद्ध स्वत सिद्ध जो प्रभु मे सोई ॥१॥
प्रगटरूपका अधार निश्चयत निराधार ।
ये ही गुरु ये ही शिष्य भक्त प्रभु दोई ॥२॥
सहजानन्द सहजज्ञान, निजपरिणतिका निधान ।
जिन चीन्हा उन परिणति निर्विकल्प जोई ॥३॥

जबतक शरीरमें अहबुद्धि, ममबुद्धि रहती तबतक प्राणी कल्याणका पात्र नहीं होता । जबतक शरीरकी पवित्रता, स्नान, निर्मलता बनानेका यत्न होता तबतक समाधिका पात्र नहीं होगा । जब तक शरीरका भान रहता तब तक समाधिस्थ नही हो सकता ।

शरीर शरीर (चालाक, उद्दड) है शरीफ नहीं । गेह देहका नेह प्रलयका मेह है । जो यशके रसमे विवश है वह फसता है जग हँसता है । जो दुखको सन्मुख नहीं कर सकता वह सुखको भी सन्मुख नही कर सकता । टीमटाम चामधाम दाम नामका ही जिन्हे काम हे उनका राम वेठाम है ।

ता० १५-१-५६

जीवनके क्षण दमादम गुजर रहे है, वह समय नजदीक है जब कि अभीके प्रेमी लोक इस अजीव कायकी राख कर देंगे । अजीव काय का कुछ भी बने इसपर विचार नहीं है किन्तु मनुष्यके सुन्दर क्षण आगे न मिल सके तो अपने आपपर बडा अत्याचार है ।

दुख आए तो आने दो, इनसे डरकर यदि सक्लेश किया तो ये कई गुण होकर और आवेंगे । सुख जाए तो जाने दो, इनमें रमकर यदि गृद्धि की तो ये लेश भी न मिलेंगे ।

अपमान होवे तो समतासे सहलो तो यथाशीघ्र तेरा उत्कृष्ट सन्मान (उत्कृष्ट मान प्रमाण सम्यग्ज्ञान–केवल ज्ञान) होगा । सन्मान होवे तो उससे दूर रह लो अन्यथा दोनो भवमें अपमान ही होगा । टाट ठाठकी डाट मोक्ष वाटकी काट है आत्म-धर्म का मर्म जाननेवाला ही भर्म दूर कर परम शर्मको

प्राप्त करता है।

ता० १७-१-५६

आज मथुरादास जी के यहा आहार हुआ—उनकी यह बलवती प्रेरणा है कि मै सागर रहू, एतदर्थ वे अन्य मुमुक्षुओके लाभके अर्थ अपने बगीचे और कुछ जायदादको प्रदान भी करना चाहते हैं, अस्तु किन्तु मेरा रहना मेरी शाति के आधार पर है। सभीकी भी यही बात है। जीवका हित सम्यग्ज्ञान है, वह ज्ञानस्वभावके लक्ष्यसे प्रगट होता है। ज्ञानस्वभावके अतिरिक्त अन्यके लक्ष्य से सम्यग्ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। वे अन्य चाहे धनादि हो, शरीर हो, शास्त्र हो, वाणी हो, देव हो, गुरु हो, देवशास्त्र गुरुके लक्ष्यसे प्रकट होने वाला ज्ञान हो, निज जीवका क्षेत्र हो, निज जीवकी पर्याय हो या समस्त गुणोका पिण्ड-निज हो आदि। हा अखण्ड निजका अनुभव सम्यग्ज्ञान है।

उक्त सब ज्ञानस्वभाव नहीं है, अत उन सबोके लक्ष्यसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता किन्तु अशुभ राग या शुभ राग होता। समस्त गुणोके पिण्डरूप निजगुणीमें ज्ञान दर्शनरूप चेतन गुण हैं व प्रमेयत्व आदि अचेतन गुण हैं सो चित्स्वरूपकी मुख्यतासे जब निज गुणीका लक्ष्य होता है तो उसके लक्ष्यसे भी सम्यग्ज्ञान होता हैं। वह यह दोनो ज्ञानमात्र हो जाते हैं। गुण और गुणी दोनो ज्ञानानुभवके कालमें अभेद हैं।

ता० १८-१-५६

चेतन अचेतनका जब यह अर्थ किया जावे कि जो चेतने प्रतिभासने रूप काम करे सो चेतन और जो प्रतिभासने का काम न करे सो अचेतन। इस व्याख्यासे यह नियम ठीक ही हे कि चेतन याने ज्ञानस्वभावके लक्ष्यसे सम्यग्ज्ञान होता हैं। उसमें भी जो स्वयको चेते उस ज्ञानस्वभावके लक्ष्यसे सम्यग्ज्ञान होता हे वहा भी क्रियाशून्य अपरिणामी चैतन्यके लक्ष्यसे सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है। अज्ञानभावके लक्ष्यसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता हे।

असबधकी दृष्टिसे निमित्त २ प्रकार के हैं—१ अत्यताभाव वाला १ स्वरूपाभाव वाला। अत्यताभाव वाले निमित्त पर द्रव्य हैं। स्वरूपाभाव वाले निमित्त एक शक्तिके परिणमनमें अन्य शक्तियोके परिणमन भी हैं।

ये उपादान व निमित्त एक ही द्रव्यमें है। प्रथम निमित्तमें द्रव्यादिचतुष्टयकी पृथक्ता है तो द्वितीय प्रकारके निमित्तमें मात्र काल भावका असंबध है।

उदापान निमित्तको पाकर अपनी शक्तिसे परिमणता है। निमित्तको पाकर परिणमता है तो भी यह विशेषता निमित्तकी नहीं है किन्तु परिणमने वाले पदार्थकी है। इसही विशेषतासे परिणामनेवाले भावको विभाव कहते हैं। इसके लक्ष्यसे सासारिक बुद्धि है। निज ज्ञानस्वभावकी आराधनासे सम्यग्ज्ञान एव हित है। इसमें परकी अपेक्षा नहीं है।

ता० १६-१-५६

जैसे चौकीको निमित्त पाकर पुरुष बैठ गया सो यह विशेषता पुरुषकी है चौकीकी नही। चौकीमें निमित्तत्वके अविभाग प्रतिच्छेद नहीं, इसलिये निमित्तत्व चौकीका गुण नहीं। पुरुषने कैसे पदार्थको निमित्त बना कर याने आश्रय कर बैठनेकी अवस्था बनाई इस बातको बतानेके लिये निमित्त शब्दका यहा प्रयोग है। आज नैनागिरके रथ-प्रवन्धक आये, माघ सुदी १२ से फागुन बदी १ तक पञ्चकल्याणक होगे। आनेकी स्वीकृति दे दी, यदि यह कायदा हो जावे कि जितनी रकम धार्मिक उत्सवमें लगाई जावे उतनी रकम शिक्षा-सस्थावोको भी दी जावे तो बडा हित हो। ज्ञानकी प्रभावनासे धर्मप्रभावना है।

आत्माके रागादिविभाव होनेमें कर्म निमित्त है शेष पदार्थ आश्रयमात्र या नोकर्म है। नोकर्म २ प्रकार के है:— १. स्पृष्ट नोकर्म (देह) २, अस्पृष्ट नोकर्म (धनादि)। कर्ममें निमित्त अथवा अनुभागके अविभाग प्रतिच्छेद होते हे इस हेतु कर्ममें निमित्तत्वकी विशेषता है सो रागादिमें कर्मका उदय निमित्त कहा गया है अन्य स्कधोको नहीं। इन अविभागप्रतिच्छेदोका निर्माण जीवके कषायभावोको निमित्त पाकर हुवा है। निज स्वभावके अवलबनसे हुई जीवकी निर्मलताको निमित्त पाकर ये अनुभाग नष्ट भी हो जाते है, इनका उदय ही नही हो पाता।

जीवके विभावकी उत्पत्तिमें कर्मोदय समकालभावी निमित्त है। परके लक्ष्यसे होनेवाली पर्याय हितरूप नहीं है, सो निमित्त नैमित्तक विषयिनी वार्ता विज्ञानशालाके सचालनके लिये छोड देना चाहिये।

ता० २०–१–५६

हित करने वाला भाव जीवमें ५३ भावोंमें से कौन है। औदयिक, औपशमिक, व भव्यत्व ये हित करनेवाले नहीं है क्योंकि ये विनाशीक है। अभव्यत्व हित करने वाला नहीं वह तो अहितका नाम ही है। क्षायिक भाव भी क्षणिक भाव है क्योंकि वह भी पर्याय है। जीवत्व भावमें अशुद्ध जीवत्व हितकारी नही है क्योंकि वह अशुद्ध और अध्रुव है। अब बचा शुद्ध जीवत्व, सो वह परिणमन नहीं है, उस स्वरूपसे ध्रुव अपरिणामी है, वह तो अनादिकालसे अनन्तकाल तक सदा ही है, वह क्या हित करेगा। तब हित करनेवाला भाव कौनसा रहा, यह एक आवश्यक समस्या है। विचारनेपर यह ठीक उतरता है कि ५३ भावोंमेंसे कोईभी असंधिरूप भाव हित नहीं करता किन्तु शुद्ध जीवत्वकी दृष्टि, अवलबन रूप औपशमिक क्षायोपशमिक क्षायिक भाव हितकारी है। इस तरह ध्रुव—अध्रुवकी संधि मोक्षमार्ग है।

ता० २१–१–५६

श्री सिद्ध भगवान टङ्कोत्कीर्णसम ज्ञानस्वभावी है और यह सामान्य ज्ञानस्वभाव भी टङ्कोत्कीर्णवत् है ॥ प्रभुका ज्ञान अचल है वैसा ही ज्ञान अनतकाल तक रहता है जैसा कि वह केवलज्ञानके प्रथम क्षणमें हुआ। यह ज्ञानस्वभाव भी अचल है वही ज्ञायक स्वभाव अनतकाल तक रहता है जो अनादिकाल से हैं।

सिद्ध परमात्मा प्रभुमें स्वभाव और परिणमन अनुरूप हो गया। सिद्ध होनेसे पहिले भी आत्मामें वैसाही स्वभाव था जैसाकि अब परिणमन हो गया, अब भी सिद्धावस्थामें स्वभाव स्थायी है और वह परिणामन क्षणिक है। हम आत्मावोंमें भी स्वभाव वैसाही है जिसके अनुभव सिद्ध आत्मावोंमें परिणमन हुआ है।

सिद्ध आत्मावोंने स्वभावका अवलवन करके यह अचल गति पाई है। हम आत्मावोंकी भी स्वभावका अवलम्बन होकर अचल गति होगी।

जैसे पाषाणमें पाषाणकी सब प्रतिमायें जिसका विकास कर लो वही प्रकट हो जाती। वैसे हम आत्मावोंमें भी हमारा सब कुछ है जिसका विकास

कर लो वही प्रकट होता व होगा।

पापाणकी प्रतिमा बनानी नही पडती, मात्र उसके आवरक पाषाण खड हटाने होते हैं। आत्माका स्वभावभी बनाना नहीं पडता मात्र उसके आवरक विभवमल हटाने होते हैं।

ता०—२२—१—५६

निर्विकल्प स्वानुभव ही हित है निर्विकल्प स्वानुभवका दैरी उपयोग न बन जाय एतदर्थ विकल्पात्मक अनुभवके आश्रयभूत वाह्य पदार्थो से दूर होने का उपदेश है। काम, क्रोध, मान, माया लोभके विकार चडाल है, विकारोके कालमें आत्मा चडाल बन जाता है और उसे अहित ही सूझता है वह अहित ही प्रियतम लगता है। फूसमहती आपत्ति से बचने के लिए स्वभाव दृष्टिका अभ्यास करना चाहिए। स्वभाव दृष्टिका अभ्यास स्वभावकी पहिचान कर-लेने पर किया जा सकता है स्वभावकी पहिचान स्वभाव व अस्वभाव (विभाव) के भेदविज्ञानसे होगी। भेदविज्ञानके लिए स्वभाव व विभावके स्वलक्षणोकी जानकारी करना चाहिए।

स्वभाव	विभाव
सम	विषम
अनादि	सादि
अनत	सात
अनैमित्तिक	नैमित्तिक
शुचि	अशुचि
आनदस्वरूप	आकुलतारूप
आनदफल	क्लेशफल
ध्रुव	अध्रुव
अचल	चल
एक	अनेक
अन्वय	व्यतिरेक
अभेद	भेद

अखड	खड
परिणामिक	औपाधिक

ता० २३–१–५६

प्रश्न-धातकी खडके सूर्यचन्द्र धातकी खडके मेरुकी प्रदक्षिणा देते हैं या जम्बूद्वीपके मेरुकी प्रदक्षिणा देते है ? उत्तर-धातकी खडके सूर्यचन्द्र आदि धात की खडमें फिरकर जम्बूद्वीपके मेरुकी प्रदक्षिणा देते है।

लोकक्षेत्रका परिज्ञान परिचित क्षेत्रके मोहके त्यागके अर्थ है। त्रिकालका परिज्ञान नामकर जानेके मोहके त्यागके अर्थ है। जिसके परिचित क्षेत्रका मोह नहीं छूटता है और त्रिलोककी चर्चा करता हे उसका वह परिज्ञान भारमात्र है। जिसके नामवरी करजानेका मोह नहीं छूटता है उसका त्रिकाल का दूसरो के लिए मजदूरी मात्र है।

सूक्ष्म गुणका उत्पाद व्यय ध्रौव्य इस प्रकार है-विवक्षित गुणसूक्ष्मकी मुख्यता उत्पाद, अविवक्षित गुणसूक्ष्मकी गौणता व्यय व सूक्ष्मता ध्रुव।

सूक्ष्मगुण विभुत्व शक्तिके निमित्तसे सब गुणो में है। जैसे—ज्ञानसूक्ष्म दर्शनसूक्ष्म, आनदसूक्ष्म, शक्तिसूक्ष्म आदि।

ता० २४–१–५६

एकही द्रव्यकी सिद्धि निश्चय से व उपचारसे है। उपचार ३ प्रकारका ह १–स्वजाति उपचार, २–विजाति उपचार, ३–स्वजाति विजाति उपचार गुणोमें ये तीनो उपचार यो घटित हैं जैसे—चेतन जीवके सब गुण चेतनाकी अपेक्षा स्वजातिक हैं। लक्षण परस्पर भिन्न होनेसे लक्षणकी अपेक्षा विजातिक हैं और दोनो अपेक्षावोसे स्वजाति विजाती है यह एक द्रव्यके अतरग.सिद्धी उपचारसे की है। निश्चयसे परम पारिणामिक भाव-रूप हे।

आत्माका आनद स्वभावदृष्टि में है निजस्वभाव दृष्टि उच्च उपयोग है, पर भावदृष्टि नीच उपयोग है। प्रत्येक प्राणीका स्वउच्च है अन्य पर नीच है। इसकी व्यवस्थाहित दृष्टिसे है।

अनन्तकालसे परम्परासे चला आया हुआ ससार और यह कर्मबन्धन कोड़ाकोड़ी सागरोकी स्थिती भी रखता है उसका विनाश मात्र निजको

निज परको पर जान यह अन्तरगसे हो जावे तो इस स्वभाव परिचयसे होने लगता है।

अन्य चतुष्टवाले ज्ञेय तो भिन्न है उनकी तो बात छोडो, निज उपयोगमें जो ज्ञेयाकर है सो वह मेरा निज सहजरूप नही है कितु सनातन सहज ज्ञानका ज्ञेयोके अनुरूप ज्ञेय ग्रहणरूप परिणमन है मं तो सहज ज्ञान-स्वरूप ध्रुव हूँ। अत उस निज ज्ञेयाकाररूप भी अपना अनुभव नहीं करना है उसकी दृष्टि छोडकर यह उपासना करनी है मैं सहज स्वच्छ एक ज्ञान स्वभावरूप हूँ। इस एकत्वकी दृष्टिकी ही समस्त महिमा मोक्षमार्ग है।

ता० २५–१–५५

आज एक श्रावकके धर आहार प्रारभ हुआ, २ ग्रासके बाद ही बाल निकलनेसे अतराय होगया, दम्पति बहुतरोए। मैंने बहुत समझाया किउन्हे धैर्य नहीं हुआ। इससे स्पष्ट है कि कोई किसी के सतोषसे सतुष्ट नही होता, कोई किसीको खिलाता नहीं किन्तु सबअपने अपने भावोंकी चेष्टा करते है सब स्वस्त्रमेंही परिणमते अत किसीका किसी से सम्बन्ध नही।

एक वस्तुमें अनन्त गुण है वे सब वस्तुमें अभिन्न है सो एक गुण जब विशेषण बनता है तब सब गुण विशेष्य बन जाते है, एक गुण विशेष्य बनता है तो सब गुण विशेषण बन जाते हैं। जैसे ज्ञानके विशेषण से सूक्ष्मज्ञान, अमूर्तज्ञान, दर्शनज्ञान, शक्तिज्ञान आदि। सूक्ष्मके विशेषणसे ज्ञानसूक्ष्म, दर्शन-सूक्ष्म वीर्यसूक्ष्म आदि। तो एक गुणके वे सब अनन्त पर्यात हो गए है इस तरह प्रत्येक गुणकी अनन्त पर्यायें युगपत वस्तुमें होगई। इन सब अनन्त पर्यायो का समूह द्रव्य हे वस्तु हे।

सत्–चीज–पदार्थ वह होता है जो बनता है, बिगडता है, बना रहता हे। जो बनता हे उस में बिगडना बना रहना होता ही है। जो बिगडता है उसमें बनना व बना रहना होता ही है। जो बना रहता हे उसमें बनना बिगडना होता ही है। जो बननेका लक्षण है वह बिगडने बने रहने का नही। जो बिगडने का लक्षण है वह बनने बने रहने का नही। जो बने रहनेका लक्षण है वह बनने बिगडने का नहीं। फिर जो बनना हे वही बिगड़ना बना रहना

है। जो बिगडना है वही बनना बना रहना है जो बना रहना है वही बनना बिगडना है। यदि बने नहीं तो बिगडना बना रहना भी नहीं हो सकता। यदि बिगडे नही तो बनना बना रहना भी नही हो सकता। यदि बना न रहे तो बनना बिगडना भी नहीं हो सकता। वस्तुमें बनना बिगडना व बना रहना तीनो एक काल एक साथ होते है।

ता० २३–१–५६

आज गुलाबचन्दजी के आहार हुआ, आहारोपरात मोराजी जैन सस्कृत विद्यालयके व बोर्डिगके सब छात्रोको लड्डू उपहृत करने का भाव भाई ने बताया।

आज भारतका गणतत्र दिवस है। गणतत्र और स्वतत्र दोनो का लोग एक अर्थ करते ह। यद्यपि इनका अर्थ जुदा है तथापि जब गण ही स्व हो जावे तो एक अर्थ हो जाता है। आत्मा भेद दृष्टिसे गणतत्र है और अभेद दृष्टिसे स्वतत्र है।

समाधि १३ प्रकार से है, उनके क्रमसे विशेष क्रम पूर्वक ये नाम ठीक प्रतीत है १–विवेकख्याति समाधि, २–सप्रज्ञात समाधि, ३–विचारानुगत समाधि, ४–लयसमाधि, ५–निर्विचारानुगत समाधि, ६–वितर्कानुगत समाधि, ७–अस्मिदानुगत सनाधि, ८–आनदानुगत समाधि, ९–निर्वितर्कानुगत समाधि, १०–निरानन्दानुगत समाधि, ११–निरास्मिदानुगत समाधि, १२–समाधि, १३–असप्रज्ञातसमाधि। तत्पश्चात् परमात्मावस्था की व्यक्ति।

आज ब्र० सत्यदेव जी मिले, ये गभीर और कर्मठ पुरुष है। काश्मीरमें इस समय अव्यवस्था होने का अदेशा ह सो आप फरवरी व मार्चमें उस प्रात में भ्रमण कर अपने उपदेशो के मानवधर्मका प्रसार करेंगे ऐसा ब्र० जी ने प्रोग्राम बताया है।

ता० १७–१–५६

आज सेठ भगवानदास जी शोभाराम जी के यहा आहार हुआ, परन्तु ये भाई घर नही थे, इन्कमटैक्सके विषय में भोपाल आफिसर के पास गये हुवे है चैन किसी को नही, शातिका अधिकारी निर्ग्रन्थ ही ह। ये दोनो भाई

सरल व उपकारी हैं।

अद्वैतबुद्धि सिद्ध है व द्वैतबुद्धि असिद्ध है। अद्वैतबुद्धि २ प्रकार की है। १–प्रत्येक अद्वैतबुद्धि अद्वैतबुद्धि. द्वैतबुद्धि भी २ प्रकार है १–सवधबुद्धि, २–निजभेदबुद्धि।

१ प्रत्येक अद्वैतबुद्धि–अनतानत जीव, अनतानत पुद्गल, एकधर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असख्यातकाल द्रव्य। ये समस्त द्रव्य अपने अपने द्रव्यगुण पर्यायरूप है। प्रत्येकको परिणति उस ही स्वयसे होती है। प्रत्येकके गुण उस ही अखड द्रव्यके सामर्थ्य है। इस प्रकार स्वयतन्त्र बुद्धि होना प्रत्येक अद्वैतबुद्धि है।

२ स्व अद्वैतबुद्धि–निज आत्मामें गुण पर्याय आदि भेद कल्पनासे रहित निर्विकल्प ज्ञायक स्वभावका ज्ञान होना स्वअद्वैतबुद्धि है।

३. सम्बध द्वैतबुद्धि–उपादान निमित्त पदार्थों के परस्पर सबध एव पर के कर्तव्य भोक्तत्व आदिकी बुद्धि रखना सम्बन्धद्वैतबुद्धि है।

४ निज भेद द्वैत बुद्धि - निज आत्मा का गुण पर्यायभेद कल्पना सहित विकल्प होना निज भेद द्वैत बुद्धि है। सम्बन्ध बुद्धि से हटकर प्रत्येक अद्वैत बुद्धि मे आये और निज भेद द्वैत बुद्धि से हटकर स्व अद्वैत बुद्धि में आये। इसके पश्चात् बुद्धि विकल्प हटकर निर्विकल्प स्थिति होगी।

ता० २८–१–५६

आज कन्छेदीलाल जी के आहार हुआ। इन्होने २५०) साहित्य प्रकाशन के लिये दान करने का भाव बताया।

आत्मा जब ज्ञान स्वभाव है तब ज्ञान में सीमा न होना इसमें कोई आश्चर्य नही। आश्चर्य तो इस बात का है कि ज्ञान कम क्यो जानता! अस्पष्ट क्यो जानता! इन्द्रिय द्वार से क्यो जानता।

आत्मा जब आनन्द स्वभाव है तब आत्मा के अनन्त सुखी होने में आश्चर्य नहीं। आश्चर्य तो इस बात का है कि आत्मा के साता असाता आदि के विकल्प क्यो होते।

सब दर्शनो का तत्त्व देख लिया। वस्तु स्वरूप का प्रदर्शन जैसा जैन

महर्षियो ने कहा वह अबाधित एव यथार्थ है। वस्तु स्वरूप की श्रद्धा होने पर आत्मा को परम अभीष्ट पूर्ण वैभव मिल गया।

हे नाथ! हे अरहत! हे सिद्ध! जब मेरे निर्विकल्प स्वानुभव न रहे तब तुम ही तुम मेरे उपयोग में विराजो। मुझे अन्य कुछ नहीं चाहिए। तुम ही शरण हो, तुम्हारा ध्यान ही शरण है, आवो आवो, मुझसे बाहर मत जावो।

ता० २९–१–५६

आज मुन्नालाल जी वैशाखिया के यहा आहार हुआ। इनके लघु पुत्र ने आजन्म द्यूत त्याग किया। मोराजी के विद्यार्थियो को फलाहार कराया। बुन्देलखण्ड की रोटी का क्षेत्र प्रमाण इसकी सूची पण्णट्ठी के द्वितीय वर्गमूल अगुल प्रमाण है। आकार वृत्त है। अवगाह सर्वत्र सूच्यगल के चतुर्थ अर्द्धच्छेद प्रमाण है। जघन्य सख्यात के घन में जघन्य सख्यात के वर्ग का भाग देने से जो लब्ध हो उस एक भाग के बिना बहुभाग प्रमाण अधस्तन भाग का अवगाह है। जघन्य सख्यात के वर्ग से भाजित जघन्य सख्यात के घन प्रमाण उपरितन भाग का अवगाह है।

हिय के हरि लघु लगत है, मन्दिर के अतिवृद्ध।
गाँव का जोगी जोगना आन गाँव का सिद्ध॥

निज प्रभु के प्रसाद बिना आनन्द प्राप्त नहीं होता। निज प्रभु के दर्शन बिना प्रभु का प्रसाद नही मिलता। परोन्मुखता छूटे बिना प्रभु का दर्शन नही होता। निज स्वभाव के परिचय बिना परोन्मुखता दूर नही होती।

ता० ३०–१–५६

१–वस्तु सद्भावात्मक है परन्तु शेष सर्व पर के असद्भाव बिना वह स्वसद्भावात्मक नही हो सकता। २–वस्तु ध्रुव है परन्तु अध्रुव परिणमन के बिना वह ध्रुव नही रह सकता। ३–वस्तु अपने में अपृथक है परन्तु पृथक पर वस्तुओ से पृथक रहे बिना वह अपृथक नहीं हो सकता। ४–वस्तु अपने में अद्वैत है परन्तु अन्य सर्व द्वैतो के खुद में व्यवस्थित हुए बिना अद्वैत नहीं हो सकता। ५–वस्तु एक है परन्तु परिणतिरूप अनेकता के बिना वह एक नही रह सकता।

मायाचार सब से बुरा आचरण है चाहे कुछ भी कल्पित हानि हो जावे तो होओ परन्तु मायाचार रूप निज की महती हानि मत करो। आत्माका सर्वोत्कृष्ट कृत्य निर्विकल्प समाधि है। वह मायाचार रहते हुए तो असभव ह ही आगे भी कठिन है।

किन्ही को ऐसा तर्क होता है कि मन्दिर में जाते हैं तो वहा मन नहीं लगता, चित्त यत्र तत्र भटकता रहता है फिर मन्दिर में जाने से क्या लाभ बल्कि मन्दिर में जाना मायाचार है ऐसा मायाचार करना हमें पसन्द नही। समाधान मन्दिर के लिए यदि इस उद्देश्य से जावे कि हमे मन्दिर में मन लगाना है, भक्ति के लिए जाना है फिर भी मन न लगे तो वह मायाचार नही है। किन्तु शुरु से ही कोई यह भाव लेकर जाये कि लोग इसमें बडा समझते हैं तो वह मायाचार है। पवित्र उद्देश्य लेकर जावे और मन न लगे न सही. किसी दिन मन भी लगेगा और वहा कभी गुरुजनो का भी सग व उपदेश मिलेगा अत मन्दिर जाना व्यर्थ नही।

ता० ३१-१-५६

वस्तु अनेकात स्वरूप है अर्थात् अनेको धर्मों के तादात्म्य वाला है परन्तु एक एक धर्मों के सापेक्ष विज्ञान बिना अनेकान्तता का विज्ञान नहीं होता। अथवा वस्तु इस प्रकार अनेकान्तस्वरूप है न एक अपि अन्तो धर्मो यत्र स अनेकान्त जिसमें एक भी धर्म नही है ऐसे स्वरूप वाला है। वस्तु पूर्ण अखण्ड है, उसके धर्म तो भेद दृष्टि व्यवहार से प्रतिबोध के प्रयोजन के लिए विज्ञातव्य हैं।

सत्य कहते है—सत् में होने वाले को, सति भव सत्यम्। तब जो सत् में धर्म है उन्हे माने वह आस्तिक और सत् के स्वरूप से विपरीत कल्पना करे वह नास्तिक।

जो नवयुवक ऐसा सोचते है--सत्य बोलना, छल न करना आदि भीतरी काम करना चाहिए वाह्य देव दर्शन रात्रि भोजन त्याग में क्या है? सो अन्तरग आचार सत्य सरलता आदि तो आवश्यक है ही यह उनकी सूझ अच्छी है किन्तु जो वाह्य आचारो में प्रवृत्ति नहीं करते याने हिंसामय वृत्तियो

से नहीं बचते वे किसी प्रवसर व्यवस्थित आचार से दूर रहने के कारण चित्त को अति अनियमित कर सकते हैं इस हेतु भीतरी आचार की पालना में असमर्थ रहेंगे ।

ता० १ व २-२-५६

वेदान्त सम्मत अध्यात्मतत्त्व--

ॐकारवाच्य सर्वात्मक ब्रह्म चतुष्पाद है, आत्मा चित्स्वरूप उसके पर्यायवाची शब्द है ।

प्रथम पाद---वैश्वानर प्रथमपाद है, वह समस्त नरो को विविध योनियो में ले जाने वाला है, समस्त नर रूप है, जागृत अवस्था में है, बहिष्प्रज्ञ है, सप्ताग है, २१ मुख वाला है, स्थूल विषयो का भोक्ता है, स्थूल प्रज्ञ है। (२१ मुख आत्मा के विकारो का सकेत करता है) ।

द्वितीय पाद-- तैजस द्वितीय पाद है, वह केवल प्रकाश स्वरूप प्रज्ञा का अनुभव करने वाला है, स्वप्न अवस्था में है, अन्त प्रज्ञ है, सप्ताग है, २१ मुख वाला है, सूक्ष्म विषयो का भोक्ता है, अन्तस्थ याने मन की वासना के अनुरूप प्रज्ञा वाला है, इसकी भाज्य वासनामात्र प्रज्ञा है ।

तृतीय पाद-- प्राज्ञ तृतीय पाद है, ज्ञानमात्र इसका रूप है, यह कुछ विकल्प नही कर पाता, चेतोमुख है, स्वप्नादि ज्ञान रूप चेतना का द्वार है, सुषुप्ति (ऐसी गाढ निद्रा जहा न कुछ चाहता है न स्वप्न देखता है) स्थान में है, एकीभूत है, प्रज्ञान घन है याने भेद ज्ञान न होने से प्रज्ञान ही घनीभूत है, आनन्द बहुल है क्योकि यहा जागरित व स्वप्न के विकल्प नहीं है, आनन्द भुक है क्योकि यहा अनायास स्थिति का अनुभव है, समस्त भेद का शासक होने से सर्वेश्वर है, सर्वज्ञ है, सर्व प्राणियो के अन्त प्रविष्ट होकर नियता होने से अन्तर्यामी है, सभेद जगत की उत्पत्ति का कारण है, लय का स्थान भी यही है ।

तुरीयपाद---परब्रह्म तुरीयपाद है-- वह न वहिष्प्रज्ञ है न उभयत प्रज्ञ है, न प्रज्ञान घन है, न प्रज्ञ है न अप्रज्ञ है---यही आत्मा उक्त तीनो पादो में विकल्पित है, अदृश्य है, अव्यवहार्य है, कर्मेन्द्रियो से ग्राह्य नहीं है, लिंगरहित

होने से अननुमेय है, अचिन्त्य है शब्दो द्वारा वाच्य नहीं है। तुरीयज्ञान के लिए "आत्मा है" एक ऐसा प्रत्यय ही प्रमाण है। जागृत आदि स्थानो में एक ही आत्मा है—इस प्रत्यय के अनुसार ज्ञात होने से एकात्मप्रत्ययसार है, भेद-प्रपचका उपशम होने से प्रपचोपशम है, शान्त है, शिव है, अद्वैत है।

उक्त कथन मे सर्व अद्वैतब्रह्म न समझकर यदि प्रत्येक अद्वैतब्रह्म का प्रत्यय हो तो उक्त वहिष्प्रज्ञ, अन्त पज्ञ एव प्रज्ञानघन तीनो परसमय है और ब्रह्म समय है तथा ब्रह्म मे लीन होने वाला स्वसमय है। यदि जागृत, स्पप्न व सुषुप्ति के कथन को लौकिक दृष्टान्त समझ लिया जावे तो इन वर्णनो मे यह कोशिश की गई समझिये कि वहिष्प्रज्ञ तो वहिरात्मा है, अन्त प्रज्ञ भेद विज्ञानी है और प्रज्ञानघन स्वानुभवी है तथा परमात्मा है। ब्रह्म चैतन्य सामान्यात्मक आत्मा है।

नम समयसाराय स्वानुभूत्वा चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावा न्तरच्छिदे ॥

ता० ३–२–५६

सत् मोक्षमार्ग, आत्मा, परमेष्ठी, तत्त्व, देव, गुरु, देवत्रिक, नरविवर्त ये अध्यक्षर है और वह अक्षर ॐ है। इसका कुछ वर्णन तत्त्वसूत्र के प्रथमसूत्र की टीका मे है।

वेदान्त मे ॐ इस प्रकार आत्मवाचक है। अ ॐ की प्रथम मात्रा है और ब्रह्म पाद मे वैश्वानर प्रथमपाद है, अकार अक्षर आदि का है और वैश्वानर भी आदि की अवस्था है सो अव वैश्वानर (जागरित स्थान) का वाचक है। उ यह तैजस का वाचक है, जैसे अ से उ उत्कृष्ट है वैसे वैश्वानर तैजस प्रज्ञानघन मे मध्यवर्ती तैजस है। इस प्रकार उ तैजस का वाचक है। तैजस का अपरनाम अन्त प्रज्ञ है। म-यह प्रज्ञावघन का बोलक है क्योकि प्रज्ञानघन से विश्व व तैजस मापे जाते है तथा विश्व तैजस प्रज्ञानघन मे लीन होते है, पुन तदन्तर निकलते है। जैसे ॐ के म् में ओ लीन हो जाता है और म में लीन होने के बाद फिर ओ निकलता है अर्थात् बोला जाता है।

फिर भी ॐ मे ब्रह्म नही आता क्योकि ब्रह्म ॐ से परे है ऊपर है।

सिद्धात में जो ॐ की व्याख्या है उससे ॐ अनेक तत्वो का अध्यक्षर सिद्ध होता है जो कि युक्ति युक्त उतरता है। भगवान की वाणी ॐ शब्द रूप है, ॐ प्रधान मत्र है, इस ॐ का बिवरण तत्व सूत्र में है। अनेक सुकारणो से ॐ का महत्व अधिक है, अत हमारे अन्य बन्धुओ ने ॐ को वहुत अपनाया है।

ता० ४–२–५६

आज मोतीलाल जी बिलहरा वालो के यहा आहार हुआ। पश्चात उन्होने विद्यार्थियो के मिष्ठान्न के लिए ५५) रु० प्रदान किए। विद्या ही सर्वोत्कृष्ट धन है। जिन्हे विद्या से प्रेम है उन्हे विद्यार्थी, अध्यापक, विद्वान, साहित्य, विद्यालय आदि से प्राकृतिक अनुराग होता है।

आज दुपहर के बाद गोपालगज समाज के आग्रहवश गोपालगज जाना हुआ। यहा जैन ग्रह १२ या १३ है। धर्म की शिक्षा का कुछ भी प्रबन्ध न देखकर उनसे कहा तो उन्होने कुछ चन्दा किया और धर्मशिक्षा सदन की स्थापना की। जिसमें वहा के बालक रात्रि को १ घण्टा धर्मशिक्षा लेंगे। वीर जयन्ती का दिन उद्‌घाटन के लिये निश्चित हुआ। यहा १ घण्टे ठहरकर बगीचा-आवास स्थान पर चला आया।

धर्मशिक्षा का प्रबन्ध प्रत्येक शहर एव गाव में होना चाहिये। मनुष्य-भव, क्षण भवो में अपूर्व क्षण है। यदि धर्म ज्ञान न किया, धर्म ज्ञान का प्रबन्ध न कराया गया तो यह बहुत बडी गल्ती है।

राग अवस्था में बुद्धिपूवक जानने का यदि प्रयत्न करो तो निज आत्मा को जानने का प्रयत्न करो या यदि पर को जानो तो प्रत्येक अद्वैत बुद्धि से जानो।

हे प्रभो! अरहत! सिद्ध! जब मेरे विकल्प रहे तब तुम ही हृदय में विराजे रहो, हृदय से न निकलना, नहीं तो मै विकल्पों से घिरकर बरबाद हो जाऊगा।

ता० ५ व ६–२–५६

इस महायुग के आदि प्रवर्तक भगवान ऋषभ देव की आराधना इस भारत में कई प्रकार से की जा रही है।

१ कोई आदि तीर्थंकर का यथार्थ विश्वास करके पञ्चकल्याण सहित आराधना करते हैं।

२ कोई सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के रूप में आराधना करते हैं क्योंकि उन्होंने कर्मभूमि की आदि मे जीवन के उपाय बताये थे जबकि मनुष्यो को जीवन का कोइ सहारा ज्ञात न था।

३ कोई कैलाशपति के रूप में आराधना करते है, क्योंकि उन्होंने कैलास पर्वत पर योग निरोध किया व निर्वाण प्राप्त किया।

४ कोई वृषभ-वाहन के रूप मे आराधना करते है क्योंकि इन्द्र को उनके देह में वृषभाकार चिन्ह प्रथम दिखा और इन्द्र ने उस समय अपनी ध्वजा में वृषभ चिन्ह बनाकर प्रसिद्ध किया।

५ कोई अक्षयतृतीया दिवस मनाकर ऋषभ देव की आराधना करते है क्योंकि इस दिन ऋषभ देव की मुनि अवस्था में प्रथम आहार हुआ। जहाँ ऋषि का आहार होता वही भोजन अक्षय हो जाता।

६ कोई प्रयाग मे अक्षय वट की पूजा करते है जहाँ कि उन्होंने दीक्षा ली थी व तपस्या कर केवलज्ञान प्राप्त किया था।

७ जिसके आगे बैल बैठा है ऐसी ध्यानस्थ मूर्ति बनाकर भी कोई आराधना करते हैं।

८ माया में रहकर भी माया से परे है इस रूप की द्योतिका एक पिण्डी बनाकर व उसके सामने बैल चिन्ह बैठाकर आराधना करते है। यहाँ अखण्ड पिण्ड का लक्ष्य बनाया।

९. कहीं आधा अग ऋषि का व आधा अग शिव का, ऐसी मूर्ति बनाकर आराधना करते हैं।

१० कोई शिवरात्रि गुजराती फागुन वदी १३ को रात्रि में मानकर आराधना करते हैं। इसदिन प्रभु ऋषभ देव ने शिवरानी का वरण किया था याने मोक्ष प्राप्त किया था।

११ भागवत में वृषभदेव को दशम अवतार के रूप में मानकर उन की रिद्धि की प्रशसा की।

१२ वेदो के मन्त्रो में वृषभ देव कई स्थानो में नाम आया व उन्हे नमस्कार किया।

१३ पुरानी लिपी ब्राह्मी में जो ऋषभ की ऋ का आकार है वह साथिया हे।

१४ पार्वतीपति कह कर भी उनका स्मरण करते हैं 'पार्वति-पर्वतस्य अचलस्य आत्मन परिणति पार्वती तस्या पति स्वामी।'

१५ महादेव नाम से भी कोई उपासना करते है। 'देवो मे महानदेव महादेव, महादेवो मया वन्द्यते।'

ता० ७-२-५६

मै आत्मा हूँ यह कहे बिना व्यवहार नहीं चलता वस्तुत मै हूँ, यह मै नही, मै नही हूँ यह मै नहीं, मै हूँ मै नही हूँ ये दोनो मै नहीं, ऐसा भी मै नही, इन सब से जो बचा सोऽहम्।

मै जीव हू ऐसा मै नही, मै अजीव हू ऐसा मै नही, मै दोनो होऊ ऐसा मै नही, दोनो के आदि मध्य अन्त में जो हे सो मै नही किन्तु इनसे जो बचा सोऽह।

जीव नाम अजीव की अपेक्षा मे हे, अजीव नाम जीव की अपेक्षा से हे, मै सर्वनाम से रहित हू। नामतो निक्षेप व्यवहार हे।

आत्मा अर्थ स्वय व स्वस्वरूप होता है सो मै आत्मा हू इससे अतिरिक्त नहीं बनता।

वहिरात्मा—स्वय से बाहर के पदार्थो को परभावो को स्वय समझने वाला वहिरात्मा है।

अन्तरात्मा—समस्त परभाव और स्वभाव में अन्तर समझने वाला अन्तरात्मा है, अथवा स्व का अन्तर याने अभेद अतरग स्वरूप समझने वाला अन्तरात्मा है।

ता० ८-२-५६

न्यायमार्गमें सर्वतोमुखी वृद्धि के अर्थ कर्तव्य —

१ — ससारमें सब तरगोको हेय समझकर निज निर्विकल्प समाधिके

लिये लक्ष्य बनाये रहना। २—प्रवचन सुनना या करना। ३—कोई ग्रन्थ पढना या पढाना। ४—समतापूर्वक तत्त्वचर्चामें शामिल होना। ५—शरीरसे, वचनसे व धनसे शक्ति न छुपाकर परसेवा करना। ६—अन्यकी निन्दा व चुगलीके शब्द न बोलना। ७—किसीके प्रति घृणाका भाव नहीं लाना। ८— तत्त्वकी जो समझ पाई है उसे कुछ न कुछ लिखना। ९—जो विषय सामाजिक विवादके स्थान पा गये हो उनके विषयमें मौन रहना। १०—किसीसे स्नेह नही बढाना। ११— कही कोई विसवाद हो जावे तो विसवादके कारण तुरन्त वहाँसे नही जाना। १२— किसीको बहुत आगेका वायदा नहीं करना।

ता० ९–२–५६

ससार स्नेहका नाम है। स्नेहका फल आदि मध्य अत सभी समय क्लेश ही है। प्रतिष्ठाके लिये नाना नाच होनेका मूल मोह है। मोही प्राणियो-की कलाये देखो कि कैसे कैसे लोगो ने कैसे कैसे पुण्योदयसे कैसी कैसी कलायें प्रयोगमे लाना आरम्भ कर दिया। किन्ही की ऐसी कला है कि प्रकट दीखता ही नही कि उन्हे प्रतिष्ठाकी चाह है, किन्तु विवेकी तो उस वातावरणमे भी पहिचान सकते हैं। किन्हीकी ऐसी कला है कि प्रकट दीख भी जाती कि इन्हे प्रतिष्ठाकी चाह है परन्तु रुख परोपकार का बता देते है या धर्मप्रचार का। आत्मन्! तुम्हें यहा कोई जानता ही नही फिर सब व्यामोह छोडो और अपने आनन्दसे समृद्धिशाली बनो। तुम्हारे आनन्द, सुख या दुखकी जुम्मेदारी तुम ही पर है।

ता० १०–२–५६

आज गिरिराज सिद्धक्षेत्र श्री सम्मेद शिखर की वन्दना की, वन्दना सम्पूर्ण सानन्द हुई। जिस शुद्धोपयोगके प्रसादसे अनन्त आत्मा पूर्ण कृतकृत्य हुए वह शुद्धोपयोग जयवन्त होओ॥ जिस स्वभावदृष्टि के प्रसादसे शुद्धोपयोगमें वर्तन हुआ वह स्वभाव दृष्टि जयवन्त होहु॥ जिस स्वानुभवानन्दके प्रसाद से परम अनन्त आनन्द प्रकट हुआ वह स्वानुभवानन्द जयवन्त होहु॥ जिस आत्मावलोकनके प्रसादसे केवल ज्ञान प्रकट हुआ वह ज्ञप्ति जयवन्त होहु॥

जिस आत्मावलोकनके प्रसादसे केवल दर्शन प्रकट हुआ वह आत्मावलोकन जयवन्त होहु ।। जिस परम पुरुषार्थ प्रसादसे विपत्ति कालमें भी ज्ञानसे अविचलित होनेके धैर्यके प्रसाद से अनन्तवीर्यका विकास हुआ वह परमपुरुषार्थ जयवन्त होहु ।। जिस परमपारिणामिक भाव स्वरूप चैतन्य तत्त्वके अवलम्बनसे उक्त प्रसाद मिले वह चैतन्य स्वभाव जयवत होहु ।।

जिनका निजज्ञानपर्याय ज्ञायकस्वभावमें एकाकार हो वर्तमान है व सदाकाल वर्तता रहेगा ऐसे सहज आनन्दमग्न सिद्ध प्रभु को नमस्कार हो ।

हे निज चैतन्य प्रभो! तुम ध्रुव हो, सहज हो, तुम्हारा अवलवन रूप शरण ही हित है । नथ! वहुत हँसी हो चुकी, मजाक मजाकमें ही बारबार सर्वस्व लुट गया । थोडी सी असावधानी का फल वहुत मँहगा व कडुवा चखना पडा, अब प्रसन्न होओ, तुम्हारी प्रसन्नता ही शान्ति मार्ग है, तुम्हारी पूर्ण प्रसन्नता ही परम आनन्द है ।

ता० ११-२-५६

ज्ञानाभ्याससे ही हमारा हित है । अन्य व्यवसाय सब चक्रमात्र है । ज्ञानाभ्याससे स्वपरविवेकज्योति जागती है, स्वपरविवेकके पश्चात् स्वमें रति होती है । यह विश्राम आत्माका सहज स्वाभाविक आनन्द है, इसका उपाय इस प्रकार है —

१ पर्यायको गौणकर द्रव्यको देखना ।
२ भेदको गौणकर अभेदको देखना ।
३ व्यक्तिको गौणकर शक्तिको देखना ।
४ अन्यको गौणकर स्वयको देखना ।
५ जन्यको गौणकर अजन्यको देखना ।
६ अध्रुवको गौणकर ध्रुवको देखना ।
७ द्वैतको गौणकर अद्वैतको देखना ।
८ विशेषको गौणकर सामान्यको देखना ।
९ प्रवाहको गौणकर स्रोतको देखना ।

११ ज्ञेयाकारको गौणकर ज्ञानाकारको देखना ।

१२, द्रव्य क्षेत्रकालको गौणकर ज्ञानाकारको देखना ।

१३ गुणको गौणकर गुणीको देखना ।

१४ खडको गौणकर अखडको देखना ।

उक्त सब उपाय अनर्थान्तिर है ।

ता० १२-२-५६

हे मनुष्य! हे मन! हे विकल्प! तू सृष्टिकर्ताकी उपासना कर। जिससे तेरी सृष्टि हुई उसे देखले तो वह प्रसन्न हो जावेगा और उसको प्रसन्नताका परिणाम है निराकुलता। यही है आत्मा की चरम प्राप्य परमेष्ठिता।

हे विकल्प! तू खुद अपनेको न देख। माया, मायाको देखेगा तो उससे माया पुष्ट होगी और यदि माया अपनी विवर्तके आधारको देख लेगी तो माया आधारमें समा जावेगी तब आनन्दकी ही अवस्था रह जावेगी याने सुख-दुख सब समाप्त हो जावेंगे।

हे विकल्प, तू जिस चेतन ईश्वरका पुत्र है उस परमपिता की आराधना कर। परमपिताकी प्रसन्नतासे सहज आनन्द अनायास झरता है।

हे विकल्प तू कल्पका व्ययकर विगत कल्प बन, नामसे तो तुम्हारी रक्षाही रहेगी। हे विकल्प! तुझे विकल्पकी ही आदत है तो ले, कर विकल्प! एकबार जिसकी तू परिणति है। उस अचल तत्वका अद्वैत विकल्प भी हो तो भी विकल्पतो कहावोगे।

हे विकल्प तेरे बड़े भाई सकल्पका विनाश हुआ अबभी तेरे क्या गर्व है? यदि तेरे कुछ गर्व है तो समझ--दीपक बुझने जैसी स्थितिका ही ढग है।

ता० १३-२-५६

आत्मन्! यदि तुम्हे अपनी करुणा करनी आ गई है या स्व दया करनी आ गई है तब सर्व विकल्पोसे मुख मोडकर प्रतिभासमान निर्विकल्प सहज सामर्थ्यमय निज चेतन प्रभुको ओर मुख करो। आत्माका मुख उपयोग है।

हे निज नाथ! क्यो भटक रहे? क्यो भटका रहे? मैं तुम्हारा ही तो

पुत्र हू ।

हे निज नाथ! तिरस्कार करो तो ऐसा करो कि दुबारा तिरस्कार न हो याने तिरस्कार करवाने के योग्य इस मुझ जैसे विषम पर्यायोका अस्तित्व ही न रहे।

हे निज नाथ! देखो बडो का यह काम है कि छोटो को अपनेमें मिला ले, स्थिरका यह काम है कि अस्थिरको स्थिर बनादे, ज्ञानमयका यह काम है कि अज्ञानीको ज्ञानी बना दे, सुखमयका यह काम है कि दुखी को सुखमय बना दे। देखो तुम महान हो, स्थिर हो, ज्ञानवान हो सुखमय हो और फिर हमारी दृष्टिके तुम ही तो स्वतन्त्रकर्ता हो। गलतीमें पडा हुआ यदि झुककर अतिसमर्थ मालिक के समीप आ जावे तब तो गलत की गलती माफ हो जाना चाहिये याने नही रहना चाहिये। देखो नाटक—एक की बात दो बनकर हो रही है।

पर्याय छोटा है, अस्थिर है, जडोपयोगी व दुखी है तो क्या विगाड! यदि अपने स्रोत रूप बडे, स्थिर, ज्ञानमय, आनन्दघन चेतन प्रभुको ही देखे! इसके लिये पुरानी हठ छोडनी होगी फिर देखो बहुत ही शीघ्र निर्मल, सम, शुद्ध क्षणिक पर्यायके प्रवाह रूप बडा स्थिर, ज्ञानमय, आनन्दमय परिणमन हो जावेगा।

ता० १४–२–२६

स्वाभाविक पर्याय अहेतुक है, अनैमित्तिक है। आदिम स्वाभाविक पर्यायमें विभावपर्यायके निमित्तभूत निमित्तके अभावका निमित्त है सो वह भी सद्भावरूप निमित्तके बिना न होने से अनैमित्तिक है।

द्रव्यपर्याय २ प्रकार की होती है—१ समान जातीय द्रव्यपर्याय, २ असमानुजातीय द्रव्यपर्याय। समान जातीय द्रव्यपर्याय पुद्गलस्कधो मे सब से छोटा दो अणुवो का स्कध है वह यदि भेदसे नही किन्तु सघातसे हुआ तो कैसे बना? उत्तर—जैसे एक परमाणु ६ डिगरीका है—यहा रुक्ष परमाणु स्निग्ध परमाणुको निमित्त पाकर स्निग्ध हो गया यह तो अर्थपर्यायकी निमित्तता हुई। व्यजन पर्यायमें ऐसा नही है कि एक कोई परिणमा और

उसमें शेष दूसरा निमित्त है परन्तु उन दोनोकी व्यंजन पर्याय हुई उसमे परस्पर निमित्तता है।

असमानजातीयपर्याय--जैसे मनुष्य है, यहा मलिन आत्मा, द्रव्यकर्म व आहार वर्गणावो एव तैजसवर्गणावोका पिण्डरूप देह इन तीनोका समुदायरूप यह मनुष्य पर्याय है। इसकी निष्पत्तिमें परस्पर साक्षात् व परम्परारूप निमित्त परस्परमे तीनो है।

ता० १५-२-५६

"मै जो हूँ सो हूँ" इसे किसी नामसे नही कहा जा सकता, क्योकि नाम स्थापनाके लिये है, मुझमें वह नाम नही है। शब्द सभी व्यवहार के लिये है। इसी तरह 'मै' यह भी नही कहा जा सकता, यह भी एक प्रकारका नाम है। नाम व्यवहार द्वारा समीप पहुँचकर तत्त्वको पहिचान लेना और नामका आग्रह छोड देना यह कल्याणपथ है। अगुलीकी सीधसे चन्द्रको बताया जावे तो वहा चन्द्रको देख लेना, अगुलिकी दृष्टि छोड देना।

धर्मका व्यामोह एक विलक्षण अन्धकार है, जिसमें अन्य तुच्छ नीच प्रतिभासते शरीर शुद्धिका विशेष विकल्प रहता है। निष्कर्ष यह निकलता कि वह धर्मव्यामोही आकुलित वना रहता है, निज चैतन्य प्रभुके दर्शनसे भी वचित रहता है।

धर्मके सम्बन्धमें ४ अभिप्रायसे जानकारी करें १ निश्चयधर्म, २. व्यवहार धर्म, ३ उपचारधर्म, ४ उपचरितोपचार धर्म, निश्यचधर्म आत्माका अनादि अनन्त स्वभाव है। व्यवहार धर्म स्वभाव का अनैमित्तिक विकास है। उपचार धर्म स्वभाव विकासरूप् व्यवहार धर्मके पूर्वका उपयोग है। उपचार धर्मके समय होने वाली तन, मन, वचनादि की प्रवृत्ति है।

ता० १६-२-२६

निम्नलिखित अवसर के अतिरिक्त प्रतिदिन २० घन्टे मौनसे रहना —यदि ख्याल न रहे तो ख्याल आते ही कायोत्सर्ग करके मौन हो जाना।

१ सप्ताह में एक दिन विशेष अवसर होनेपर, २. गुरुजनोके पासमें बैठे हुएमें, ३ अतिदूरसे किसी बन्धुके मिलनेके लिए आनेपर अधिकसे अधिक

१० मिनट, ४. आहारोपरान्त गृहस्थके घरपर अधिक से अधिक १- मिनट, ५. प्रयाण के समय व पहुँचनेके समय आधा घटा, ६ चार घटा बोल सकने का अदाजन प्रोग्राम- पौन घन्टा प्रवचन पौन घन्टा पाठन, पौन घन्टा तत्त्व-चर्चा, पौन घन्टा प्रवचन या पाठन या पठन, आधा घन्टा सेवा-समाज मिलन आधा घन्टा अन्य पूरक प्रोग्राम।

यान सम्बन्धी नियम वर्षायोग प्रतिष्ठापनके बाद १ नौका व डोली का यथावसर उपयोग, २ वर्षमें एक बार तीर्थवन्दन, प्रान्तपरिवर्तन, गुरु-सत्सग व वर्षायोगके पहिले रेल या वायुयानसे गमनागमनके अतिरिक्त इस यानका भी त्याग। ३ अतिविशिष्ट त्यागी सत्पुरुषकी समाधिके अवसरपर यान्त्रिक यान द्वारा गमनागमन। उक्त नियम पूज्यश्री गुरुवर्य महाराजजीकी आज्ञा लेकर लिए।

ता० १७-२-५६

आजकल साथका सवाल बडा कठिन है, क्योंकि लोग विभिन्न विभिन्न रुचि के होते हैं। परन्तु चैतन्यमात्र निज वस्तुत्वका परिचय पाये हुए कितने ही लोग हो, उनमें विवाद नही होता। कितने ही लोग कहते है कि आजकल मुनीश्रीकी सख्यासे अधिक आचार्यश्री की सख्या है। जबकि पहले आचार्यश्री की सख्यासे कई सौगुनी सख्या मुनिश्री की थी।

चरणानुयोगकी प्रवृत्तियो में भी विविधता है और कषाय परिणामो की भी विविधता है। सभी विविधताओकी आपत्ति चैतन्यमात्र निज वस्तुत्वके परिचयसे लुप्त हो जाती है।

सर्व तन मन धन वचन निछावर करके भी स्वरूप परिचय हो जावे तो उससे बढकर विभूति तीन लोक व तीन कालमें अन्य नहीं है। जिस प्रवृतिमें स्वरूपदृष्टिकी विरुद्धता है वह व्यवहारसे भी अधम है। जिस बाह्यनिवृत्ति में स्वरूपदृष्टिकी विरुद्धता है वह भी व्यवहारसे भी अधर्म है।

ध्रुव रहना चाहते हो तो ध्रुव स्वभावको देखो।

अविनाशी रहना चाहते हो तो अविनाशी स्वभावको देखो।

सुखी रहना चाहते हो तो सुख स्वभावको देखो।

ज्ञानी रहना चाहते हो तो ज्ञानस्वभावको देखो।

शान्त रहना चाहते हो तो निस्तरग शान्त स्वभावको देखो।

ता० १८-२-५६

क्रोधी रहना चाहते हो तो क्रोधकी ज्ञानपर्यायमें एकाकारता होने दो।

क्षमाशील रहना चाहते हो तो निस्तरगस्वभाव की ज्ञानपर्यायमें एकाकारता होने दो।

मानी रहना चाहते हो तो मानभावकी ज्ञान पर्यायमें एकाकारता होने दो।

मृदु रहना चाहते हो तो सहजस्वभावकी ज्ञान पर्यायमें एकाकारता होने दो।

मायावी रहना चाहते हो तो छल कपट परिणाम की ज्ञानपर्यायमें एकाकारता होने दो।

सरल रहना चाहते हो तो स्वत सिद्ध स्वभावकी ज्ञानपर्याय में एकाकारता होने दो।

लोभी रहना चाहते हो तो तृष्णाभावकी ज्ञानपर्यायमें एकाकारता होने दो।

शुचि रहना चाहते हो तो केवल स्वभावकी ज्ञानपर्यायमें एकाकारता होने दो।

जिस जीवनकालमें स्वरूप दृष्टि न होनेसे विह्वलता रहती है वह जीवन वृथा है।

जिस मरणकालमें स्वरूप-सावधानी होनेसे समता, शाँति रहती है वह मरण सार्थक है।

स्वभावदृष्टि रहै तो कहीं दुःख नहीं है। स्वरूपदृष्टि न रहे तो कहीं सुख नही है।

स्वभावके विकास २ प्रकार के हैं—१. स्वभाव २. विभाव। स्वभाव विकास अहेतुक है, विभाव विकास सहेतुक है। दोनोमें रहने वाला सहज स्वभाव एक सनातन है।

सहज स्वभावका अर्थ है जबसे वस्तु है तभीसे एक रूपसे जिसका तादात्म्य हो। सहजका निरुक्त्यर्थ है सहजायते इति सहजम्। जो साथ उत्पन्न हो अर्थात् जबसे वस्तु उत्पन्न है तभी से जो हो। वस्तु अनादिसे है वह किसीसे उत्पन्न नहीं हुई सो वस्तुका स्वभाव भी अनादिसे है वह किसी दिन उत्पन्न नही हुआ। उत्पन्न होनेका नाम देकर चूंकि वह अनादिसे है सो अनादि सिद्धता बताई है।

ता० १९–२–५६

परमात्मा शब्दको बिना लाइन के लिखो उसमें जितने अक समझमें आयें जोड दो। उनका जोड २४ होता है। लोगोकी कल्पना हो सकती है कि परमात्मा शब्द ही बताता है कि २४ तीर्थङ्कर होते हैं।

ऊनी कपडा अशुद्ध है पशुके बाल काटकर बनाये जाते है उसमें उनका खून तक निकल आता है तथा उन बालोमें अन्य जीव भी पैदा होते रहते हैं। इसका नाम भी ऊनी है, ऊन कम याने घटिया। सो यह कपडा ऊनी है अर्थात् घटिया रद्दी है। इसका सत्पुरुषको उपयोग नहीं करना चाहिये।

अहिंसक पुरुषको नगे पैर चलना चाहिये और चमडेका किसी भी कार्यके लिये उपयोग नहीं करना चाहिये। यदि कोई इससे अशक्त हो तो क्रूम आदि चमडेका जूता न पहिने और अन्य चमडेकी वस्तुका किसीका उपयोग न करे। जीवित पशुओको बुरी तरह मारकर क्रूम आदि चमडा बनाये जाते है। सो चमडेके उपयोगमें अहिंसा पल ही नही सकती।

अहिंसक पुरुषको रात्रिमे भोजन नहीं करना चाहिये, रात्रिभोजी अहिसक हो नही सकता। अहिंसा ही धर्म है। आत्मामें जितना अहिसा तत्व है उतना धर्म है और जितनी हिंसावृत्ति है उतना अधर्म है।

ता० २०–२–५६

मौलिक सदाचारी निम्नलिखित बातोका पालन करे।

१, शराब गाजा, भग, अफीम, चरस, आदि नशीली वस्तुओका त्याग। २ मास, अडे, मधु (शहद) व सडी वस्तुके खानेका त्याग॥ ३ जुआ खेलनेका त्याग। ४ इरादतन किसी जीवका घात नही करना व

दल नही दुखाना । ५. विश्वासघात नही करना, छल नही करना, दूसरोका ाहित करने वाले वचन नहीं बोलना, चुगली, निन्दा नही करना, झूठी गवाही ाही देना । ६ किसीकी चीज नही चुराना । ७ परस्त्री व वेश्यासे सबध ाही रखना । ८ परिग्रहका परिमाण करना व आवश्यवतासे अधिक परिग्रह ाोने पर यथाशक्ति दूसरो के उपयोगके लिये वितरण करना ॥ (अण्डा, मास ाी है किन्तु कुछ मनचले इसे वेजीटेबिल का बहाना कर खाने लगे इसलिये २रे नियम मे अण्डा भी लिख दिया) ।

ता० २१-२-५६

मौलिक सदाचार पालनके साथ साथ निम्नलिखित विशिष्ट सदाचारोका भी पालन यावज्जन्म अथवा कमजोरी हो तो कुछ अवधि रखकर पालन करे ।

१ बीडी सिगरेट तम्बाखू खाने पीनेका त्याग । २ रात्रिमें अन्नकी वस्तु खानेका त्याग । ३. रात्रिमें सभी पदार्थोके खानेका त्याग ॥ ४ रात्रि में जल औषधिके अतिरिक्त सभी वस्तुवोके खाने पीनेका त्याग ॥ ५ रात्रिमें जल औषधि आदि सब वस्तुओके खाने पीनेका त्याग ॥ ६ रिश्वत लेने का त्याग ॥ ७ धार्मिक समारोहके अतिरिक्त सिनेमा देखनेका त्याग ॥ ८. वीतराग सर्वज्ञ परमात्माका प्रतिदिन अभिवन्दन करना ॥ ९ विषयकषायोसे निवृत्तिका उपदेश देनेवाले शास्त्रो का प्रतिदिन स्वाध्याय करना ॥ १० परिग्रहत्यागी ज्ञान ध्यान तपमे लवलीन साधुकी भक्ति करना । ११ गोभी फूल खानेका त्याग ॥ १२ पुराने अचारका त्याग ॥ १३ बाजारकी बनी हुई खाद्य चीजोका त्याग ॥ १४. पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन ॥ १५ प्रतिमासमें ‌ दिन पूर्ण ब्रह्मचर्यसे रहना । १६ (पर्वोके नाम लिखकर) पर्वोके दिन पूर्ण ब्रह्मचर्यसे रहना ॥ १७ छना हुआ जल पीना । १८ अनछने जलको बनी हुई वस्तुको खानेका भी त्याग ॥ १९ कुत्ता बिल्ली आदि शिकारी जानवर न पालना ॥ २०. धनकी आयमेंसे ( ) पैसा प्रतिरुपया सब दानमें निकालना ॥ २१. धन की आयमें से ( ) पैसा प्रति रुपया ज्ञान दानमें निकालना ॥ २२. प्रतिदिन ( ) घण्टा पढ़ना, पढाना या स्वाध्याय करना ।

२३ प्रतिदिन ब्राह्म मुहुर्तमें ( ) घण्टा मौन पूर्वक आत्माराधना करना।

ता० २२-२-५१

अन्तरग सदाचार —

१ धन घर वैभव आदि पदार्थोको निजसे भिन्न समझना। २ परिवार मित्र आदि प्राणियोको निजसे भिन्न समझना। ३ शरीरको अपनेसे भिन्न समझना। ४ तैजसकार्माणरूप सूक्ष्म शरीरसे अपनेको भिन्न समझना। ५ रागद्वेषादि विभावो को निजसे भिन्न समझना। ६ वर्तमानमें हो रहे अपूर्ण ज्ञानोको निजस्वरूपसे भिन्न समझना। ७ आगामि होनेवाले पूर्ण ज्ञानको निजस्वभावसे भिन्न समझना। ८ शुद्ध चैतन्यमात्र निजका अनुभव करना। ९ शुद्ध चैतन्यमात्र निजस्वभावमें उपयोगको स्थिर करना। १०. निजस्वभावमें स्थिरता न होने पर उसकी भावना करना। रागवश अस्वभावकी प्रवृत्ति होने पर भी श्रद्धासे विचलित नही होना।

ता० २३-२-५६

प्रभावना तो अज्ञान अधकार को दूरकर यथायोग्य जिन शासनके माहात्म्यको प्रगट करना है। किन्तु प्राय लोग यदि कोई पचकल्याणक आदि समारोह भी किया जावे तो—वहा भी आर्थिक आय अधिकसे अधिक हो यह दृष्टि और प्रयत्न करते है ऐसा करनेपर अज्ञान अधकारको दूर करनेका प्रोग्राम गौण हो जाता है फिर बताओ वह प्रभावना कैसे कहावे।

स्नपन आदि धार्मिक कार्यके लिये अनेक लोग प्रस्तुत हो जावेगे इससे अव्यवस्था होगी अत चुनाव तो आवश्यक है। यदि यह सुझाव हो कि सदाचारियोंका चुनाव करलें--इसके लिये भी विसवाद हो सकता है, अतएव बोली बोलना आवश्यकसी हो जाती है किन्तु एतदर्थ लघुकाल लगाये और उपदेश आदिमें अधिक समय लगावे इससे प्रभावना ठीक हो सकती है। उक्त व्यवस्था का एक उपाय यह भी हो सकता है कि उत्सवकारक उत्सवमें लगानेवाले सर्व खर्चको करे फिर आयकी अपेक्षा गौण हो जावेगी।

ता० २४-२-५६

कमसे कम सप्तव्यसनका त्यागी तो हो ही हो, तब उसके हाथसे

त्यागीजन आहार लेवें। सबका भला करनेवाला उनका सदाचार ही हे। जुवा सब व्यसनोमें प्रधान है, इसके कारण जुवारीमें सब व्यसन आ जाते हें। जुवा कहते है हार-जीत की दृष्टिसे खेल खेलना, जिसमें धनकी हार होने पर दु खी होना होता हे और धनकी जीत होने पर कुछ मौज होना होता है; सो वह मौज स्थायी नही है उन्हे भी आखिर सर्वस्व खोकर दुखी होना ही पडता है। अन्तरग जुआ सब व्यसनमें अर्थात् मिथ्यादृष्टिमें सब आपत्तिया आ जाती है। अन्तरग जुवा कहते हैं---पुण्यका उदव होनेपर इष्ट समागममें अपनी जीत समझना और पापका उदय होनेपर अनिष्ट समागम अथवा इष्ट वियोग होनेमे अपनी हार समझना, दु ख मानना। सो इष्ट समागम भी कब तक रह सकेगा अन्तमें उसके वियोगमे दु खी होना पडेगा ही। इस जुवे वाले दुरभिनिवेशका नाम मिथ्यात्व है वह सासारिक सर्व व्यसनोका मूल है। इस मिथ्यात्व रूपी प्रधान व्यसनके मिटने पर सब व्यसन मिटने लगते हैं।

द्वीन्द्रियादि के देहोका भक्षण करना मास भक्षण है। मास भक्षी जीव महापतित और क्रूर है धर्म दया से रहित है वह तो आत्मसयमनका पात्र भी नही है शाति कहासे होगी। वस्तुत निज देह में या पर देहमें आसक्ति होना माँस भक्षण है। आत्मा अपने आपमें ही कुछ कर सकता हे। द्वीन्द्रियादिके देहके भक्षणका परिणाम तथा निज देह या पर देहमे रुचि आसक्ति भोगका परिणाम, यह आत्माका विकृत कर्म है यही अतरग व्यसन है, आपत्ति है निरी आपत्ति हे, इसमें निरतर आकुलता रहती हे वह शाति व आत्मसयमनका पात्र नही हे।

व्रत करनेमे अन्तरग निर्मलता और निरीहताकी आवश्यकता है, दुर्बलता उतनी बाधक नहीं। क्योकि निर्बलसे निर्बल मनुष्य परिणामोकी निर्मलतासे मोक्षमार्गके पात्र बन जाते हैं जबकि निर्मलताके अभावमें सबलसे सबल भी मनुष्य ससारके पात्र बने रहते है।

जिसको हमने पर्याय भर रोग जाना और जिसके लिए दुनिया के वैद्य और हकीमो को नब्ज दिखाया, उनके लिखे बने या पिसे पदार्थो का सेवन किया और कर रहे है, वह वास्तव रोग नहीं हे। जो रोग है उसको न जाना

और न जानने की चेष्टा की और न उस रोग के वैद्यो द्वारा निदिष्ट रामवाण औषधि का प्रयोग किया। उस रोग के मिट जाने से यह रोग सहज ही मिट जाता है। वह रोग है राग और उसके सद्वैद्य है वीतराग जिन। उनकी बनाई औषधि है ? (१) समता (२) परपदार्थों से ममत्व का त्याग और (३) तत्त्वज्ञान। यदि इस त्रिफला को शान्तिरसके साथ सेवन कर कषाय जैसी कटु और मोह जैसी खट्टी वस्तुओ का परहेज किया जावे। तो इससे बढकर रामबाण औषधि कोई नही हो सकती।

ता० २५-२-५६

मदिरा आदि नशीली चीजोके पान करने को मदिरापान करना कहते हैं, मदिरापायी अपनी सारी सुध भूल जाता है बेहोश हो जाता है, धर्म कर्त्तव्य की बुद्धि इससे नष्ट हो जाती है। वस्तुत मोहके उद्वेगसे अविवेकमे बेहोश होना मदिरापान है। इस अविवेकसे धर्म कर्त्तव्यकी बुद्धि नष्ट हो जाती है।

वेश्यासे प्रेम ससर्ग करना वेश्यागमन है। वस्तुत परपदार्थगामिनी कुबुद्धि वेश्या है, उसकी पद्धतिसे चलना वेश्यागमन है। इस व्यसनका करने वाला शाति, कल्याण का पात्र नही।

बिना दी हुई दूसरेकी चीज उठा लेना रखना सो चोरी है, इस व्यसन वाले का चित्त अन्यायपूर्ण व भयभीत रहता है वह पुण्य कर्मका भी अधिकारी नही है। वस्तुत अपनेमे भिन्न स्वरूपवाले गेह धन आदिको अपना मानना उनके ग्रहणकी चाह करनासो चोरी है। इस विरुद्ध भाव वाले आत्मामें धर्मभाव नही ठहरता।

मृग आदि प्राणियोका शिकार करना शिकार व्यसन है। शिकार निर्दयतासे ही होती है। निर्दय पुरुष पुण्य कार्यका भी अधिकारी नहीं है। वस्तुत विषय कषायोमें फँसकर अपने ज्ञान दर्शन प्राणो का घात करना सो शिकार है। इस शिकारी के धर्म की वृत्ति नही है।

पर पदार्थो के विविध ज्ञानो में पर बुद्धि की ही परख रह जाना सो परस्त्री गमन है। परबुद्धि अथवा पर्याय बुद्धि रूप परवृत्ति का पररमणी का आसक्त प्राणी धर्म धारण की योग्यता नही रखता। परस्त्री के साथ राग

ससर्ग करना भी परस्त्री गमन है।

उक्त सात व्यसनो के त्याग से ही मोक्षमार्ग मिल सकेगा, सो सप्त व्यसन का त्याग जन जन का होना चाहिए।

ता० २६-२-५६

समाज की आज की आवश्यकता व उसकी पूर्ति के साधन—

सदाचार का प्रचार करना—साधु सत एव देशव्रती सम्मेलन आदि सस्थायें।

सॉस्कृतिक शिक्षा का प्रसार करना-विद्यालय, गुरुकुल, एव सत्सग

व्यापारी व लौकिक शिक्षार्थियो के धर्मपाठन का प्रबध बोर्डिग हाउस, धर्मशिक्षासदन, रात्रि शाला व ग्रैष्मकालिक धर्मशिक्षण शिविर।

व्रती मुमुक्षुजनो के लिए—आश्रम, विद्यामदिर स्वाध्याय मन्दिर, चर्चा, शास्त्र सभा।

भक्तिसगीत- आकर्षक सगीतमडल, मधुर सघ, वीर सघ। जैन भजन रिकार्ड्स, धार्मिक क्षेत्र उत्सव कथा फिल्म- वीर सदेश प्रसारक सघ व अन्य सस्थायें।

जैन सिद्धान्तो का प्रचार व गलत प्रचार रोकना--विद्वत्परिषद आदि।

धर्मसकट रक्षा—महासभा, परिषद् आदि।

विशाल लाइब्रेरी व अनुसधान—विद्यापीठ वैशाली, वीर सेवा मन्दिर आदि।

योग्य-योग्य सत्सगो में एक-एक विद्वान रखना—केन्द्रीय महासमिति देहली आदि।

विदेशो में धर्मज्ञानका प्रचार करना—अखिल विश्वमिशन।

सर्व धर्मियो का समन्वय व सगठन--विश्व धर्म सम्मेलन।

धार्मिक आध्यात्मिक पत्र—सन्मति सदेश, अनेकान्त आदि।

अब कुछ वक्ताओ में असत्य व्यवहार चलने लगा है—जैसे-भाषणो में अन्य की घटनाओ में अपना सम्बन्ध जोड देना, कल्पित अपनी घटना बता

देना, आय व्यय का हिसाव गलत रखना, अन्य वक्ता से ईर्ष्या करना आदि। यह मिटकर सत्य व्यवहार हो तो स्वपर हित हो।

ता० २७-२-५६

आज रेशन्दिगिरमें गजरथ चल रहा है। करीव १ लाखका जनसमुदाय रथ देखने खडा है। दृश्य सुहावना हे, दोनो हाथी वडे सुन्दर दिख रहे हैं। चलता हुआ रथ देख कर जनता विभोर हो रही हे। यदि शुद्ध आत्मा व परमात्माका वास्तविक स्वरूप व आत्मासे परमात्मा बननेका वास्तविक उपाय जनताको देशनादि द्वारा विदित करा दिया जाना तो यह दृश्य उनकी दृढ श्रद्धा और विशिष्ट पुण्यवन्धका कारण होता परन्तु इन उत्सवोमें वहुलतया धनार्थियोका सम्वन्ध होनेसे सव कुछ तन मन धन वचन खर्च करके भी स्वपर लाभसे वञ्चित रहते हैं।

प्रत्येक मनुष्य यदि चार बातोका प्रतिदिन पालन करता रहे तो उत्थान अवश्य होगा--

(१) सवसे मीठे हितकारी वचन बोलना। (२) नियमिय स्वाध्याय करना। (३) ब्रह्मचर्यसे रहना। (४) शुद्ध भोजन करना।

यहा इन देहातो मे १ प्रथा वहुत बुरी हे कि स्त्रिया अपनी इष्ट स्त्रियोसे मिलने पर कन्धेसे कन्धा लगाकर ऐसी बुरी तरह रोती हैं कि सुनने वालोके दिल काप जॉय। यह प्रथा सभ्यतासे विरुद्ध है।

ता० २८-२-५६

पदके विरुद्ध कार्य करनेवालो की वुद्धि भ्रष्ठ हो जाती हे, परन्तु श्रद्धाके कारण जिनकी वुद्धि भ्रष्ठ न हो व कर्म विपाकवश कुछ विरुद्ध काय करनेमें आजाय यद्यपि वह अनाचार नही हो तथापि अतिचार तो हे ही, उसकी निवृत्ति शीघ्र कर लेना चाहिये।

स्वरूप और नियमोकी ओर झुकाव हुए विना वुद्धि अभ्रष्ट नही हो सकती।

मेला कल तक रहा व कल से बिघटना शुरू हुआ। यह ससारकी परिस्थितिका जीता उदाहरण है। मैं सवसे न्यारा अकेला चैतन्य मात्र हूँ।

जो मैं हू, वह ध्रुव है और जिनसे मेरा पर्यायगत सम्बन्ध है वह अध्रुव है। निश्चयत मेरा किसी से सम्बन्ध ही नही है। जिस समय इस मुझसे परका सम्बन्ध है उस समय यह मैं भी अध्रुव हू। द्रव्यका द्रव्यसे सम्बन्ध नही होता। अवस्थाका अवस्थासे सम्बन्ध होता सो भी सयोगमात्र।

मैं समस्त परसे अत्यन्त भिन्न हू। जीव और पुद्गलका न्यारापन और अवस्थाकी अध्रुवता व द्रव्यकी ध्रुवता प्रतीतिमे आ जाना सर्व शास्त्रोके पढने का फल हे।

निजकी दया सर्वोत्तम दया है। निजकी दया करनेवाले के निमित्तसे परकी दया हो जाना अनायास होता रहता है। अनादि, अनन्त, अहेतुक, असाधारण, निज चैतन्य स्वभावकी दृष्टि रखना निजकी दया हे और अवस्था व भिन्न पदार्थोकी दृष्टि रखना निजकी अदया हे। निजकी याद निजकी दया हे, परकी याद निज की दया नहीं है। दया—या—द।

ता० २९—२—५६

तुम एक ही तो प्रसन्न होना चाहते हो तो निज एकको ही प्रसन्न करो। एक की प्रसन्नता एककी दृष्टिसे होती है। एककी दृष्टि एक अखड स्वभावके मननसे होती है। अत सर्व विज्ञान होनेपर भी प्रत्येक वस्तुके अखड स्वभावके दर्शनपूर्वक स्वतन्त्र स्वतन्त्र सबको निरखो। परतन्त्र कुछ भी नहीं है। मान्यताकी लाज निमित्तभूत वस्तुओ ने रखी है। निमित्तभूत वस्तुवोकी लाज उपादानके तथाविध परिणमनने रखी है।

जिनका मन मदनमोहमगन है वह धर्मसेती दूर है व आप ससार सताप सहता है। ससार की विजय कठिन नही है, निरन्तर सत्सगका अभाव आजकल वडा कल्याणबाधक हो रहा है।

श्रद्धा समस्त निर्णयकी जननी है। जब पर बुद्धि रूप आपत्ति आवे तब निज स्वभाव दृष्टि रूप सुदृढ गडो में जाने या रहने का यत्न होना चाहिये।

आत्मा नित्य है। नित्यकी दृष्टि करो आनन्द नित्य हो जावेगा।

पर्यायें २ प्रकार की है—१ विषम, २ सम। यद्यपि सव पर्यायें क्षणिक

है तथापि विषम क्षणिक का अनुभव दु खपूर्ण है, सम क्षणिकका अनुभव सहजानन्द--विकास रूप है ।

ता० १-३-५६

विरोध बडी ज्वाला हे जिस हृदयमे किसी विषयक विरोध बसता हे वह चैन नहीं ले पाता । क्या कोई द्वेष भाव रख कर सुखी हुआ है ? नहीं हुआ । जो अपकार करे, विपत्ति डाले उसके प्रति भी विरोध न करे तो वह स्वय भी सुखी हो जावेगा और दूसरा भी सुखी हो जावेगा, स्वय निर्वैर रहेगा और दूसरा भी निर्वैर हो जावेगा ।

इष्ट समागम मे फूलो मत । श्री वृषभदेव के ६ माह अन्तराय आता रहा, कोई इष्ट साथी नही हुआ । अनिष्ट समागममें दु खी मत होओ, स्वरूप-ज्ञानीके कुछ अनिष्ट ही नही ।

जब शरीर ही तेरा नही है तो तेरा क्या होगा ? रोग जिसकी पर्याय हे उसे उसी में देखो व परिणति याने रोगको गौणकर द्रव्य की प्रमुख दृष्टि बनाओ ।

तेरा तेरे आत्माके अतिरिक्त और क्या हे? कुछ नही, तो अब न कुछ की इच्छा मत करो । परकी इच्छा बडी विपदा हे, इससे अनत ससारका सताप पुष्ट होगा ।

मूढ लोक सुखकेलिये बुरा बोल बोलते हे सो अपनेसे बडेके प्रति तो बुरा बोल नही पाते । यदि इनसे बोले तो तत्काल दण्ड मिले । हा मानने में जो इनसे छोटे हें उनसे बुरा बोलते हैं सो उनकी इस चेष्टामे उनका यश नष्ट हो जाता हे फिर इसके प्रतिफल स्वरूप उन्हे दु खी होना पडता हे । बुरे वचन वक्ता को दु खी करते हे सो बुरा कभी भी नही बोलना चाहिये । मिष्ट हितकारी वचनसे मनुष्य की शोभा व भलाई ह ।

ता० २-३-५६

एकविहारित्व व एकातवास इन दोनोकी योग्यता आज कलके लोगोमें नहीं हे । हा एकातवास की योग्यता तो हो सकती ह । यदि बिलकुल एकान्त-वास हो परन्तु ऐसा एकान्तवास होना कठिन है । एकविहारित्व की तो योग्यता

आजकल है ही नही।

बुद्धिमानोका सत्सग लाभकारक हे। यद्यपि बुद्धिमानोके समुदायमें विवाद होनेकी अधिक सभावना है और मूर्ख लोगोम विवादकी सभावना कम है तथापि बुद्धिमानोका सग ही उत्तम है, मूर्खोका सग उत्तम नही है। विशिष्ट बुद्धिमानोमें विवाद उठनेका प्रश्न ही नही है।

ससारमे कुछ भी वस्तु उत्तम नही है। अपने लिए निज चैतन्य स्वभावकी दृष्टि और स्वभावमे ही स्थिर होकर चैतन्य स्वभावकी ही अनुभूति ही एक उत्तम है।

मेरा सहाई यहा कोई नही है, न मित्र सहाय, न बन्धु सहाय है, न प्रभु सहाय है, न शरीर सहाय हे, कोई सहाय नही। अपना निर्मल परिणाम ही सहाय है। परिणामकी उत्कृष्ट निर्मलता वहा हे, जहा किसी अन्य तत्त्वका आश्रय नही बनाया जाता, अहेतुक सहज सिद्ध परिणमन जहा होता। आत्मन्! किसीको मत सोच, क्योकि अन्य कोई तेरा कुछ नही है। आत्मन्! किसीसे अनुराग मत कर, क्योकि किसीसे कुछ भी नही मिलना। सर्व इन्द्रियोके व्यापारको बन्द करके अपने स्वभावके उन्मुख होकर विश्राम से रह।

ता० ३-३-५६

धर्म अविकार सहज स्वभाव के अवलबनसे प्रकट होता हे प्रथम तो निश्चयत अविकार स्वभाव ही धर्म है किन्तु वह भोक्ता नही है अत व्यक्तानन्दमय नही। अविकार स्वभावके अवलबनसे प्रकट होनेवाला पर्याय रूप धर्म व्यक्तानन्दमय है, यह व्यवहार धर्म है धर्मसे पूर्व या उत्तरमें होनेवाले प्रशस्त-रागादिभाव उपचार धर्म है। उपचारके धर्मको निमित्त मात्र करके होनेवाली देहादि क्रिया उपचरितोपचरित धर्म है।

वस्तुत निश्चय धर्म व व्यवहार धर्म ही धर्म है। उपचार धर्म शुभोपयोग अथवा पुण्यभाव है वह धर्म नही। उपचरितोपचरित धर्म पुद्गल की परिणति है वह भी आत्मधर्म नही।

आत्मधर्म अचेतन पदार्थ के अवलम्बन से प्रकट नही होता। आत्मधर्म पर चेतन पदार्थ के अवलम्ब से प्रकट नही होता। आत्म धर्म रागादि परभाव

के अवलम्बन से प्रकट नहीं होता। आत्मधर्म देह वचन मन के अवलम्बन से प्रकट नहीं होता। आत्मधर्म वर्तमान पर्याय के अवलम्बन से प्रकट नही होता। आत्मधर्म त्रैकालिक अखण्ड वस्तु परमपारिणामिक भाव के सविकल्प अवलबन से प्रकट नहीं होता।

आत्मधर्म निज अखड वस्तु-परमपरिणामिक भाव के निर्विकल्प अवलम्बन से प्रकट होता ह। आत्मधर्म प्रकट होनेकी रीति सबको एकसी है।

यदि उत्कृष्ट धर्म पर्याय न प्रकट हुई हो अनुत्कृष्ट होरही हो वहा भी धर्म प्रशस्त रागसे प्रकट हुआ न समझना क्योकि प्रशस्त रागसे धर्म प्रकट नहीं होता किन्तु आत्म स्वभावकी श्रद्धारूप अवलम्बनसे प्राथमिक-अनुत्कृष्ट धर्म पर्याय प्रकट होती हे पश्चात् उसही स्वभावकी स्थिरतारूप अवलम्बनकी जैसी वृद्धि होती जाती ह वैसा धर्म परिणति उत्कृष्टताकी ओर बढती चली जाती है।

ता ४-३-५६

राग जीवकी गलती है। श्रद्धासे धर्म होने पर भी जो शुभ रागरूप गलती हे उसका फल तीर्थंकर इन्द्र चक्रवर्ती उत्तम देव होना है। फिर तो यदि जैसे श्रद्धासे धर्म हे साथ चरित्र से भी धर्म हो याने शुभरागकी भी गलती न हो तो उसका फल शाश्वत परम आनन्द है।

अनादिकालसे ससारसताप सहता हुआ यह आत्मा परिणमन करता चला आया है आज इस मनुष्य भवमें हे, श्रेष्ठ मन वाला हे, इसका मन नारकी और तिर्यञ्चो से श्रेष्ठ हे यह तो प्रकट सिद्ध है किन्तु देवोके मनसे भी श्रेष्ठ है, यह आगम सिद्ध है—इन्द्र अग पूर्वो का पाठी होकर भी श्रुतकेवली नही है। मनुष्य ही श्रुतकेवली हो सकता है पूर्वोके पाठी हे, लौकान्तिक व सर्वार्थसिद्धि आदिके देव अग पूर्वोके पाठी हे। पुनरपि वे श्रुतकेवली नही हो सकते। श्रुतकेवली मनुष्य ही हो सकता है। इतना श्रेष्ठ मनवाला भव पाकर के भी यदि सत्कृत्य न हुआ तब इससे बढकर अफसोसकी बात अन्य नहीं।

सत्कृत्य यह एक ही हे—"स्वभावका अवलम्बन"। स्वभाव आत्मा का अनादिसे अनतकाल तक नित्य अत प्रकाशमान है उसे जब उपयोगने देखा

जाना तभी सम्यक्त्व हुआ। आत्माका धर्म आत्मासे ही प्रकट होता है। स्वभाव की दृष्टि आ जावे इतना ही कठिन था, अब स्वभावकी दृष्टि आ गई, अब कुछ सोचकी बात नहीं। स्वभावके अवलम्बनसे स्थिरता बढाते जावो।

ता० ५-३-५६

जिसको कल्याणकी वाञ्छा है वह तीन बातोका शक्ति न छुपाकर पालन करता रहे १-स्वाध्याय, २-ब्रह्मचर्य, ३-शुद्ध भोजन॥ स्वाध्यायका कार्य ४ भागोमें बाँटे-१-प्रवचन करना या सुनना, २-विद्यार्थियोकी भाति कोई ग्रथ पढना, ३-तत्त्वचर्चा करना, ४-एकातमें किसी ग्रन्थका स्वाध्याय करना।

ब्रह्मचर्यके लिये आजीवन ब्रह्मचर्य हो तो अच्छा, नही तो प्रति माह २५-२६-२७-२८-२९ दिन आदिको इस प्रकार ब्रह्मचर्यका सकल्प करके गृहस्थ पालन करे और इस सकल्पके पश्चात् भी यथाशक्ति आत्मवीर्य प्रकट करके अवशिष्ट दिनोमें भी ब्रह्मचर्यकी उपासना करे। "ब्रह्मचर्य पर तप" इस सूक्तिका आदर करे। शुद्ध भोजन-ऐसा शुद्ध भोजन करे कि अचानक भी कोई व्रती आ जावे तो उन्हे भी आहार करा सके, नही तो दुहरे छन्नेसे छना हुआ जल-हाथ चक्कीका आटा-शोधे हुये दाल चावल-मर्यादाके अदर छान कर गर्म किया हुआ दूध-मक्खन निकलने पर जल्दी तपाया गया घी इत्यादि रूपसे तो शुद्ध भोजन होना ही चाहिये। प्रमाद छोडकर यथाशक्ति शुद्ध भोजन का ही यत्न करे अभक्ष्य न खावे।

भ्रमणमें स्वाध्याय ठीक नही हो पाता, इसमे एक कारण तो यह है-कि ग्रन्थोका सग्रह तुरन्त नही मिलता और कही तो मिलता भी नही, और दूसरा कारण यह है कि अभी आये सो कुछ समय तो विकल्प और अन्य परिस्थितियोमे चला गया तथा जब जाना है तब उससे पहिलेसे कुछ समय इसी प्रकार चला जाता।

ता० ५-३-५६

स्पर्शन व रसना इन्द्रियके विषय सेवन परिणामका नाम काम है और घ्राण चक्षु श्रोत्र इद्रियके विषय सेवन परिणामका नाम भोग है। ये काम

और भोग भावेन्द्रियके परिणमन है। भावेन्द्रिय आत्माका विकारी भाव है। आत्मा भावेन्द्रियके भोगको ही भोग सकता है, पर पदार्थका भोग नहीं कर सकता भावेन्द्रिय के भोगमें जो निमित्त मात्र हुआ उस पर पदार्थका भोग ससारमें प्रसिद्ध तो है किन्तु वह औपचारिक बात है।

सभी आत्मा जो कुछ करते है अपनेको करते है किसी भी द्रव्यका गुण पर्याय उस की निजके प्रदेशोमे रहता हे बाहर नहीं। हम अपने से अतिरिक्त अन्यको कुछ भी नही कर सकते। बस अब हमें करना ही क्या हे ! आनन्द हे! विश्राम है !! शान्ति है।

जडके पुजारियोकी अधिकता होनेसे धन अथवा अन्य वस्तुका त्याग जडकी उन्नतिके लिये होता है परन्तु आत्मतत्त्वके पुजारियोकी धन अथवा अन्य वस्तुका त्याग ज्ञानकी उन्नतिके लिये होता है।

अपना काल स्वाध्याय मे अधिक बितावो, इससे विराम मिले तो पाठन व उपदेशमें समय बितावो, इससे विराम मिले तो तत्त्वचर्चामें समय बितावो, इससे विराम मिले तो अशुभपयोग से बचनेके अर्थ विविध योग्य अनशन कायक्लेश आदि तपमें समयको लगावो।

ता० ६-३-५६

पर्यायबुद्धि समस्त आपत्तियोका कारण है। सन्मान अपमान, सुख दु ख, इष्ट अनिष्ट विकल्पोकी आपत्ति प्रर्याय बुद्धि कराती है। अपनी वर्तमान परिस्थितिको पूरा सर्वस्व स्वय समझना पर्यायबुद्धि है। वर्तमान परिस्थितिको गौण करके वर्तमान उपयोगके द्वारा त्रैकालिक चैतन्य स्वभाव में (मात्र चैतन्य स्वभावमें) तद्रूप स्वयकोसमझना स्वबुद्धि है। स्वबुद्धि कषायमें नहीं लगने देती।

सुख दु खको पुण्य पापको, शुभ अशुभ उपयोग को शुभ अशुभ विकार को जिसने स्वभाव विरुद्ध एव समान मान लिया है वह स्वभावमें शीघ्र प्रतिष्ठित हो सकता है।

स्नेह दु:ख है जो जितना स्नेह करता हे वह उतना उस कालमें दु खी है और आगे भी उसके वियोग होने पर वह उतना अधिक दु खी होगा।

जिस पर अधिक स्नेह है जो अधिक प्यारा लगता है वह उतनाही
अधिक दुर्दशाका निमित्त है बच्चोको विद्या क्यो जल्दी याद हो जाती हैं
इसलिये कि वे किसीके स्नेहके चक्करमें नही है। चिन्ता तृष्णाकी गाठ उनके
नहीं है। छल कपट विश्वासघात आगामि भय आदि कलक उनके नही आत्मा
की भलाई निर्दोषतामें है। दोषका आदर मत करो। निर्दोष चैतन्य स्वभावकी
आराधना करो। सच समझो—तुम्हारा सरल अव तुम ही हो।

जनरल कमेटी मुख्य कमेटी—बडी कमेटीको कहते है लोकमे। जनरल
साधारण सामान्य ये एकार्थवाचक है। सामान्य ही मुमुक्षुवोको मुख्य है, उसमें
महत और वडप्पन है।

ता० ७-३-५६

उल्टे सीधे पढनेमे एक तरह आनेवाले कुछ शब्द—

बाबा, चाचा, काका, नाना, दादा, मामा, हूहू, हाहा, कल्क, कालिका,
गेगेन, सुधासु, दर्द (दरद), कडक, करक, पशुप, नशन, नातना, नलिन, नमन,
कटक, मरम, नवजीवन, नयन, सरस, कनक।

ता० ८-३-५६

क्षेत्र माप

प्रदेश—एकपरमाणुरुद्ध क्षेत्र
उत्सज्ञा (अवसन्न)—अनतानतपरमाणु सघात परिमित क्षेत्र
सज्ञा (सन्नासन्न)—८ उत्सज्ञा
त्रुटिरेणु—८ सज्ञा
त्रसरेणु—८ त्रुटिरेणु
रथरेणु—८ त्रसरेणु
उत्तमभोगभूमिजनरकेशाग्रकोटी—८ रथरेणु
मध्यमभोगभूमिजनरकेशाग्रकोटी—८ उ० भो० के०
जघन्यभोगभूमिजनरकेशाग्रकोटी—८ म० भो० के०
कर्मभूमिजनरकेशाग्रकोटी—८ ज० भो० नरके०
लिक्षा—८ क० नरकेशाग्रकोटी

यूका—८ लिक्षा
यवमध्य—८ यूका
उत्सेधागुल—८ यवमध्य
प्रमाणागुल—५०० उत्सेधागुल
आत्मागुल—अपने अपने समयके नरोंका अगुल
पाद—६ अगुल
वितस्ति—२ पाद
हस्त—२ वितस्ति
किष्कु—२ हस्त
दण्ड (धनुष)—२ किष्कु
कोश (गव्यूत)—२ हजार धनुष (दण्ड)
योजन—४ गव्यूत (कोश)
राजू—असख्यातासख्यात योजन
श्रेणि—७ राजू
प्रतरलोक—७ राजू का वर्ग (७×७=४९)
सर्वलोक—७ राजूका घन (७×७×७=६३)

ता० ९-३-५६

कालप्रमाण

समय—अविभागी काल पर्याय
आवली—असख्यात समय
उच्छ्वास—असख्यात आवली
निश्वास—असख्यात आवली
प्राण—एक उच्छ्वास व निश्वास
स्तोक—७ प्राण
लव—७ स्तोक
मुहूर्त— ७७ लव
दिनरात—३० मुहूर्त

पक्ष—१५ दिनरात

मास—२ पक्ष

ऋृतु—२ मास

अयन—३ ऋृतु

सवत्सर (वर्ष)—२ अयन

पूर्वाङ्ग—८४ लाख वर्ष

पूर्व—८४ लाख पूर्वांग

पर्वाङ्ग—८४ लाख पूर्व

पर्व—८४ लाख पर्वाङ्ग

नयुताग—८४ लाख पूर्व

नयुत—८४ लाख नयुताग

कुमुदाग—८४ लाख नयुत

कुमुद—८४ लाख कुमुदाग

पद्माग—८४ लाख कुमुद

पद्म—८४ लाख पद्माग

नलिनाग—८४ लाख पद्म

नलिन—८४ लाख नलिनाग

कमलाग—८४ लाख नलिन

कमल—८४ लाख कमलाग

तुटद्याग—८४ लाख कमल

तुटद्य—८४ लाख तुटद्याग

अट्टाग—८४ लाख तुटद्य

अटट—८४ लाख अटटाग

अममाग—८४ लाख अटट

अमम—८४ लाख अममाग

हूहू अग—८४ लाख अमम

हूहू—८४ लाख हूहू अग

लताग—८४ लाख हूहू

अच्छे कार्य करते समय प्रसन्न रहो, यदि पापका कार्य बन जावे तो उत्तरकालमें आत्मनिन्दा करते हुए भविष्यमें वह कार्य न हो ऐसा प्रयत्न करो, यही प्रायश्चित है।

ता० १०-३-५६

हमारा शत्रु हमारा विकल्प है। निर्विकल्प समाधि मित्र है। केवल ज्ञानमें सब विश्व जाननेमें आता हे सो इस दृष्टिसे वह सारा विश्व केवल ज्ञानके एक कौने में समाया रहता हे। इसी प्रकार आशारूपी गड्ढा इतना बडा है कि उसमें भी सारा विश्व समा जाता हे और वहा भी आशामें एक कोनेमें पडा रहता हे। अहो देखो तो इस मामले इस तृष्णाने भगवानसे होड लगा डाली, मुंहजोरी कर रक्खी।

हे आत्मन्! इस भवमें जो श्रेष्ठ मन पाया है तो मनका उत्तम सदुपयोग करलो अन्यथा वह समय दूर नहीं हे जबकि न जाने कौनसा अन्धकार सामने आ जावे।

आवो आवो अपने समीप निज चैतन्यज्योतिमें अपना विलास करो। बाहर घूमकर व्यर्थ क्यो क्लेश सहते हो।

विकल्पो में ही बने रहोगे तो यह अचूक अवसर चुका दोगे। अनादिसे अब तक क्या क्या नही हुए हो। इस भवको समझ लो कि पाया ही नहीं ह और इसे निर्विकल्प समाधिमें लगा दो।

विकल्पोका फल विषयोमें फसना ही हे। यदि निर्विकल्प के लिए विकल्प नही है। कफमें मक्खीका चलना फसनेके लिए ही है।

विकल्प स्वय फसाव है और फिर जहाँ निर्विकल्पकत्वका लक्ष्य ही नही हे वहा तो फसाव की परम्परा रहती है।

ता० ११-३-५६

प्रभुके ज्ञानमें तीन लोक व तीन कालके सब अर्थ यथास्थित आगए अर्थात् सब अर्थोंके जैसे आकाररूप ज्ञानवृत्ति हुई। इससे यह बात सुनिश्चित सिद्ध है कि जब जो जिस विधानसे जैसा होना प्रभुने जाना तब वह उस

विधानसे वैसा होता ही है। आत्माके विभाव पर्याय और पुद्गलके वि
पर्याय निमित्तको पाकर होते हैं, होते हैं स्वयके भावसे। अब यहा बा
हागई कि जो विभाव पर्याय जिस निमित्त को पाकर होती है वह क
निश्चित है और उस निमित्त की उपस्थितिभी निश्चित है। यहा देखो नि
की अनुपस्थितिमें कार्य नही होता फिरभी निमित्त उपदानोमें कुछ अस
सहायता नहीं करता।

निमित्त उपादानमें कुछ असर या सहायता आदि नहीं करता फि
निमित्तकी अनुपस्थिति में यह कार्य नही हुआ। इस विचित्र सम्बन्धकी म
का क्या हाल है। उपादान अपनी ऐसी योग्यतावाला है कि वह निमि
पाकर स्वय अपने भावमे अपनी परिणति करता है, निमित्तका द्रव्य गुण
कुछभी नही ग्रहण करता, वह स्वय परिणमता है व स्वय परिणमता
निमित्तकी अपेक्षा नहीं करता, फिरभी निमित्तको पाकर विभाव
परिणमता है। इसमें यह उपादानकी विशेषता योग्यता है ऐसा समझना
विशेषता निमित्तकी नहीं है। "बाह्येतरोपाधिसमग्रतेय कार्येषु ते द्रव
स्वभाव। नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुसातेनाभिवन्द्य स्त्वमृषिर्बुधाना॥

ता० १८-३-५६

(१) आत्मा अखड है किन्तु उसका विलास अनत है। (२)
आत्मा एक है उसकी सामर्थ्य एक है वर्तमान पर्याय एक है। (३)
एक है, पदार्थका द्रव्यरूपमें भेद कल्पित नहीं होता। (४) भेदकल्पना स
और परिणमनमें की जा सकती है। (५) प्रत्येक आत्मा भेददृष्टिसे
सामर्थ्यवाला है। (६) उन सामर्थ्यों में अनेक सामर्थ्य साधारण हैं और
सामर्थ्य असाधारण हैं जो केवल आत्मद्रव्य में पाई जाती हैं। (७) उक्त
सामर्थ्यों का नाम गुण अथवा शक्ति है। (८) प्रत्येक शक्ति स्वाति
अनत शक्तियों से विशेषित है तभी वे शक्तियां सत्य याने सत्में होने
हो सकती हैं। (९) उक्त पद्धतिसे ज्ञान सूक्ष्म है, सुखादि है, पवि
नशील है, सवेय है इत्यादि रूपसे अनन्त रूप है अतएव प्रत्येक गुण अन
अनन्तपर्यायरूप है। गुण भी पर्याय (भेद) है। (१०) अनतपर्यायसमूह

पर्यायस्वरूप द्रव्य एक अखड है। (११) इस तरह एक आत्मद्रव्यमें अनतगुण है। (१२) एक एक गुण अनन्त गुण रूप है। (१३) ऐसे उस एक एक भेद गुण में कालावच्छेदेन अनन्त पर्यायें हैं। १४–एक एक स्वकालमें अनत अनत अविभाग प्रतिच्छेद हैं। (१५) उस एक एक अविभाग प्रतिच्छेदमें अनत अनत रस है। (१६) उस एक एक रसमें अनत अनत प्रभाव हैं। (१७) यह एक एक प्रभाव विलासकी इकाई है। (१८) ऐसे ऐसे अनतानत विलासोका अभेद-स्वरूप यह आत्मा एक अखड है।

ता० १३–३–५६

अनुमतिविरति प्रतिमामें आहारके लिये कई श्रावक बन्धुओका ले जानेको परस्पर कलह हो जानेसे सकल्पित क्षुल्लक व्रतका अभ्यास निर्विघ्न अच्छा चले यह भावना है। वस्तुत मेरा कार्य परम शुद्ध निश्चयनयके विषय-भूत अखड निज चित्सवरूपकी दृष्टि और स्थिरता करना ही होनेको पडा है। निश्चयत मैं क्षुल्कक नहीं, त्यागी नही, व्यवहारिक नहीं, किसी आकारवाला नहीं, देह नही, जाति नहीं, कुल नही। सर्व पर पदार्थ और सर्व परभाव एव सर्व स्वभावसे क्रमश अत्यन्ताभाव, सहजभावाभाव, स्वलक्षणभाव होनेसे विविक्त हू, चैतन्यमात्र हू। मेरा नाम नहीं, मुझसे कोई व्यवहार नहीं करता, जिससे कोई व्यवहार करता वह मैं नहीं। बुरा मानना, हर्ष मानना, निन्दा समझना ये सभी पागलपन हैं।

कोई मेरी निन्दा नहीं करता वह अपती ही निन्दा करता हे। कोई मेरी प्रशसा नहीं कर सकता वह अपनी ही प्रशसा करता है। कोई मेरा अपमान नहीं करता वह अपना ही अपमान करता है। कोई मेरा सन्मान नहीं कर सकता वह अपना ही सन्मान करता हैं। कोई मुझपर प्रेम नही कर सकता वह अपना ही प्रेम करता है। कोई मुझपर द्वेष नही करता वह अपना ही द्वेष करता है। कोई मेरा सुख नहीं कर सकता वह अपना ही सुख करता हे। कोई मेरा दु ख नहीं कर सकता वह अपना ही दु ख करता हे। यह सब तो हुई विकल्पों की कथा। परमात्मा भी मेरा कुछ नहीं करता वह तो मेरा मात्र ज्ञाता है सो भी वह निजज्ञेयाकार का ज्ञाता है। मेरा ज्ञाता भगवान हैं।

यह उपचार कथन है। कुछ भी देखो सत्य देखो। सत्य देखोगे तो सत्य बनोगे। "साच बराबर तप नहीं, झूट बराबर पाप, जाके हिरदै साच है ताके हिरदै आप" इसका तात्पर्य है सत्यस्वभाव दृष्टि बराबर तप नही, अभूतार्थ-दृष्टि या पर्यायबुद्धि बराबर पाप नहीं, जिसकी दृष्टिमें सत्यस्वभाव है उसके आत्मा प्रत्यक्ष है।

ता० १४-३-५६

श्री सिद्ध क्षेत्र गिरनार जी के आज दर्शन किये। जूनागढ व सहस्राम्रवन और गिरि के दृश्य से श्री नेमिनाथ भगवान का ऐतिहासिक वृत्त ठीक चित्त पर उतर जाता है। यद्यपि ८७ हजार वर्ष पहिले के वही निशान हो यह चाहे दुर्लक्ष्य हो या असभव हो तथापि दर्शन करके चित्त स्वीकार जरूर कर लेता कि परम्परया निशान ये ही हे। ऐसा दृश्य भी मन में समा जाता है कि श्री नेमिनाथ जी इस प्राचीन किले के पास से निकलकर पीछे के पैदल के रास्ते से सहस्राम्रवन में आये थे, दीक्षा तपस्या यहा की थी। निर्वाण भूमि भी अतिहृद्य है।

जिस समय अतीव उत्साह व सजी बरात के साथ जनसमूह था और अचानक वैराग्य की घटना घटित हुई उस समय बडी खलबली नाना प्रकार की जनता में मच गई होगी और उसी समय से गिरिराज की महिमा चली और राजुल के वैराग्य की घटना से तो लोक चालना में महिमा सवाई हो गई होगी।

धन्य वह वैराग्यवासित चित्त जहा काम पर इतनी महत्वपूर्ण विजय हो।

धन्य वह बालपन जिसमें यथाजातरूप होकर लौकिक और अलौकिक बालपन का समावेश हुआ॥ धन्य वह मोक्षमार्गी कुटुम्ब जहा सगाई के निर्धारित पति पत्नी, भाई भतीजे भाई के पौत्र आदि तपस्या द्वारा आत्म कृपा के कार्य में सहज उदासीनता से लग रहे हो॥ धन्य वह उपयोग जो इन मागलिक परका विषय मात्र पाकर विरक्ति की ओर उन्मुख हो रहा है।

ता० १५-३-५६

सर्व प्रथम "मैं एकाकी हू-सुख दुखमें पुण्य पापमें ससार मोक्षमें जीवन मरणमें सर्वत्र अकेला हू" इस श्रद्धाका होना आवश्यक है। इसके बिना मिथ्यात्वबधनके नाशके उपाय करने की भी पात्रता नही आ सकती। यह श्रद्धा मिथ्यात्व की मदतामें हो सकती॥ पुन आगे चलकर सूक्ष्म व्यवहार पक्षका भी प्रतिषेध होकर निश्चय पक्षका अवलबन होता है, पश्चात् निश्चय पक्षका भी अवलबन छूटकर पक्षरहित स्वानुभूतिसहित अनाकुल स्वादका वेदन होता है।

जेती उपशमत कषाया, तेता ही त्याग बताया। इस नीतिके विरुद्ध अर्थात् कषाय रहते हुएभी कषायवश यदि कोई त्याग कर बैठे तो उस त्याग कषाय की विडम्बना होती रहती है।

त्याग कषायके मूल भी चार कषायें हो सकती है।

(१) घर या मित्रमडली में कोई कलह उत्पन्न होने पर मेरे त्यागी हो जानेसे इनको पछताना हो जावेगा इत्यादि बुद्धिसे गृह आदि जड पदार्थोके त्याग कर देनेको क्रोधका त्याग कहते हैं।

(२) अन्य त्यागी लोगो की प्रतिष्ठा पूजा आदि देखकर वैसी बात को अपने प्रति कराने के भावसे सम्मानकी चाहसे गृह आदि जड पदार्थोके त्याग कर देनेको मानकृत त्याग कहते हैं, अथवा मेरा लोग इतना सम्मान करते हैं उससे प्रेरित होकर गृहादिक के त्याग कर देनेको मानकृत त्याग कहते हैं।

(३) पौजीशन के काबिल परिस्थिति होने पर त्याग कर देना ही एक मार्ग है इस विचारसे गृह आदि जड अर्थोका त्याग कर देना और येन केन प्रकारेण त्यागकी व्यक्त प्रवृत्तियोको करना मायाकृत त्याग है।

(४) भोजन सुविधा आराम आदि के लोभसे गृहादि वस्तुओके त्याग कर देनेको लोभकृत त्याग कहते हैं।

कषायोपशम के अनसार त्याग होनेमें समताशातिका भग नही होता।

ता० १६-३-५६

मैं चैतन्यस्वभावी ध्रुव तत्त्व हूँ, वर्तमान पर्यायमात्र नही हूँ। वर्तमानतो केवल वर्तमान क्षणमात्रके लिये है, द्वितीय क्षणमें द्वितीय वर्तमान हो जाता है। जो तुम्हारे वर्तमान परिणमन चल रहा है उसकी रुचि मत करो क्योंकि वर्तमान परिणामकी रुचि आर्त या रौद्रध्यानकी जननी है। वर्तमान परिणामकी रुचिसे या तो हर्षकी विह्वलता होगी या विशादकी विह्वलता होगी। वर्तमान परिणामतो सबके होता है किन्तु जो उसमें रुचि रखते हैं उनके धर्मध्यान व शुक्लध्यान नहीं होता।

हे निज चेतन प्रभो! जो तेरे वर्तमान हो रहा है वह लक्ष्य या उपादेय नही है किन्तु प्रतिषेध्य है। अपने किसीभी वर्तमानको निज मत जान भला मत मान। जो वर्तमान भलाई करने वाला होगा उस समय भले बुरेकी कल्पना की भी नही।

हे निज नाथ! प्रसन्न होओ, बाह्यकी ओर दृष्टि न दे। तेरे सहज स्वरूपमें देखा गया आत्मा तेरा प्रभु है-रक्षक है, उसकी उपासना करके अपनी सर्वार्थसिद्धिको पा। तेरा शत्रु तेरा विकल्प है-विकल्पको हेय जानकर स्वभावदृष्टिसे निर्विकल्प समाधिके उन्मुख होओ तो तू सत्य है-सन्मार्गगामी है-शत्रुजीत एव सर्वजीत है।

ता० १७-३-५६

जगतके प्रत्येक द्रव्यका परिणमन उसके खुदके चतुष्टय से होता है। तू परका अधिकारी नही है फिर परके कुछ बदलनेका भाव या परकी कोई बात न रुचनेका भी भाव तेरा मुर्खपना नही तो और क्या है?

रे आत्मन्! यदि तूने कुछ योग्यता आज पाई तो अन्य को तुच्छ मानकर न चल, अन्यथा कुछ ही समय बाद उल्टी बात हो जावेगी। तुम उससे तुच्छ रह सकते हो। रे आत्मन! तूने यदि कुछ प्रभुता पाई तो दूसरोके दारिद्र्यपर अनुदारचित्त मत बन, अन्यथा कुछ ही समय बाद उल्टी बात हो जावेगी।

यदि आत्माको अव्यग्र रखनेकी अभिलाषा है तब—(१) पर पदार्थो

के साथ सम्पर्क न करो (२) किसीसे व्यर्थ पत्र व्यवहार न करो (३) और न किसीसे व्यर्थ बात करो (४) मन्दिरजीमें एकाकी जाओ (५) किसी दानीकी मर्यादासे अधिक प्रशसा कर चारण बननेकी चेष्टा मत करो, दान जो करेगा सो अपनी आत्माके हितकी दृष्टिसे करेगा, हम उसके गुणगान करें सो क्यो ? गुणगानसे यह तात्पर्य हैं कि आप उसे प्रसन्न कर अपनी प्रशसा चाहते हो। इसका यह अर्थ नहीं कि निन्दा करो उदासीन बनो।

रे आत्मन ! यदि तेरे कुछ धनादिका समागम हुआ है तो तू निर्धनो की तुष्टिकी सीमाका लेखा जोखा मनमें न रखाकर, अन्यथा कुछही समय बाद उल्टी बात हो जावेगी।

रे आत्मन् ! यदि तेरे भक्त, मित्र, आदरकर्ता अधिक हो गये हैं तो तू अपने सेवकोको प्रेमशून्य व्यवहारमें मत रख, अन्यथा कुछ समय बाद उल्टी बात हो जावेगी।

रे आत्मन् ! दूसरोकी यदि कुछ हीन दशा है तो वह हीन दशा मिट-कर तुमसेभी उच्च हो सकती है अत बाह्यकी प्रमुखता न रखकर सबको समान भावसे देख, अन्यथा कुछ समय बाद उल्टी बात हो जावेगी।

रे आत्मन् ! दूसरोको कुछ उपदेश देनेसे पहले अपने आपको वैसा बना, जैसा दूसरोको कहना चाहता है वैसी अन्तवृत्ति कुछ कुछ तो बनायाही कर, अन्यथा कुछ समय बाद उल्टी बात हो जावेगी। तू सुनेगा और वक्ता तुझे ललकारेंगे।

ता० १८-३-५६

प्रमाण ज्ञेय प्रतिबिम्बरूप है और नय अभिप्रायरूप है। शब्दोके द्वारा प्रमाण नही बताया जाता किन्तु किसी धर्मको मुख्य करके कहे गये शब्दके व्याजसे अभेद वस्तुके जानन द्वारा प्रमाण-ज्ञान हो जाता है। शब्द जितन होते हैं वे अर्थकी अपेक्षा नयप्रतिपादक वचन हैं किन्तु वक्ता व श्रोता अभेद वस्तुका ग्रहण कर लेते हैं तो वही वाक्य प्रमाणरूप है और यदि वाच्य धर्मको ही ग्रहण करते हैं तो वही वाक्य नयरूप है। तथा अनुक्त धर्मोको प्रतिषेधरूप सस्कारको रखकर वाच्य धर्मको ही ग्रहण किया जावे तो वही वाक्य दुर्नयरूप

है। तथा अनुक्त धर्मोके अस्तित्वकी स्वीकारताको रखकर वाक्यधर्मको ही ग्रहण किया जावे तो वही वाक्य सुनयरूप हे। सामान्यतया उन सभीको ज्ञान कहते हैं सो ज्ञानका प्रमाणरूप होना, नयरूप होना, दुर्नयरूप होना, सुनयरूप होना, यह सब ज्ञानकी बलिहार है। शब्दोसे यह व्यवस्था नहीं बन पाती पुनरपि शब्द विन्यास बिना कुछ भी प्रतिपादकतारूप व्यवहार नही बन पाता।

शब्दोसे भग तो वही है किन्तु जहा उक्त अनुक्तके अभेदकी वृत्तिकी कला है वह तो प्रमाण है और जहा भेदवृत्तिकी कला हे वह नयरूप हे। नयोका विशद परिज्ञान करना पहिले अत्यावश्यक है। क्योंकि पदार्थोका जैसा स्वरूप है वैसा ज्ञान करानेको नय निमित्तभूत हैं। नयोका फल प्रमाण है, प्रमाणके पूर्वरूप नय हैं। नयोका परिज्ञान न होनेसे श्रोता कलुष आशय वाले हो जाते हैं और प्रवक्ता जैनधर्मका विरूपक द्रोही हो जाता है।

ता० १६-३-५६

निर्विकल्प समाधिही एक कल्याण है। इसके अभावमें विकल्प शत्रुओ का आक्रमण बना रहता है। विकल्प शत्रुके आक्रमण का मूल विकारकी रुचि है। विकारकी रुचिका कारण निर्विकर स्वभावका अपरिचय है। अत कल्याण के अर्थ नयोके विवरणकी यथार्थता समझ करके निज निर्विकार अनादि अनत चैतन्य स्वभाव का परिचय कर लेना चाहिये।

भागवान हो जाना स्वभावावमबनका उत्कृष्ट फल है। भगवान का कोई नाम नहीं है। जो परमात्मा है अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानलक्ष्मीकरि युक्त आत्मा हे वही भगवान है। जो भग कहिये उत्कृष्ट स्वधीन निर्मल ऐश्वर्यवाला है वही भगवान है।

ज्ञानके विविध लक्षण—भूतार्थप्रकाशक ज्ञानम्। तत्त्वार्थोपिलम्भक ज्ञानम्। बहिर्मुखचित्प्रकाशो ज्ञानम्। यो यथावस्थितोऽर्थस्तस्य तथा ज्ञान सम्यग्ज्ञानम्। ज्ञेयावभामन ज्ञानम्। साकारोपयोगो ज्ञानम्। अर्थ विकल्पो ज्ञानम्। ज्ञेयप्रतिविम्बरूपो ज्ञानम्। सकलादेशो ज्ञानम्। आदि।

ता० २०-३-५६

प्रकाशवृत्तिदर्शनम् । अन्तर्मुखचित्प्रकाशो दर्शनम् । ज सामण्ण ग्रहण भावाण णेव कट्टुमायार अविसेसदूण अट्ठे दसणमिदि भण्णये समये । निराकारोपयोगी दर्शनम् आदि । सयमके कुछ लक्षण प्रवृत्तिपूर्वकविषय निरोध-सयम । आत्मनि सम्यक् यमन सयम ।

ता० २१-३-५६

सम्यक्त्वके विविध लक्षण—तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम् । विविक्तात्मरुचि सम्यग्दर्शनम् । निजशुद्धात्मरुचि सम्यग्दर्शनम् । भूतार्थ तत्त्वावगम सम्यग्दर्शनम् । तत्त्वरुचि सम्यग्दर्शनम् । प्रशमसवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्ति लक्षण सम्यग्दर्शनम् । दर्शनविषयप्रतीति सम्यग्दर्शनम् ।

ता० २२-३-५६

मन वचन कायके निमित्तसे जो आत्मप्रदेशपरिस्पद है वह योग है किन्तु मन वचन कायके निमित्त बिना अपने अवयवो द्वारा जो परिस्पद है वह योग नही है । यह अयोग दो प्रकारका है--१-स्वस्थितप्रदेशाजह, २-स्वस्थित प्रदेशजहा ये क्रमसे १४वे गुण स्थान व मुक्तिके लिये होनेवाली अविग्रहगतिमें होती है । सिद्ध क्षेत्रमें परिस्पन्दाभावरूप अयोग होता है ।

मात्र एकत्वका ग्रहण करनेवाले भूतार्थनयकी दृष्टिसे चाहे आत्माको देखो अथवा अनात्माको । उस समय स्वभावमात्र की दृष्टि हो जानेसे सामान्यग्रहणरूप उपयोगके निकट पहुँच जाता है और भूतार्थनयकी दृष्टिसे भी छूटकर सामान्यग्रहण रह जाता है । जो कि आत्मप्रकाशवृत्तिरूप हो जाता है इससे स्वानुभूति हो सकती है अत भूतार्थनयसे तत्त्वका जानना सम्यक्त्वका कारण है ।

आत्माका सद्भावना तो मित्र है और दुर्भावना शत्रु है । किसी अन्य आत्माको अपना शत्रु मित्र मानना अज्ञान है ।

प्रत्येक पदार्थ अपने परिणमनसे परिणमता है । यदि कोई आत्मा तुम्हारी इच्छाके सदृश्य परिणम गया तो इसमें यह न सोचा कि इसने मेरा भला किया क्योंकि तथ्य तो यह है कि उसने अपना काम किया तुमने अपना काम किया ।

यदि कोई तुम्हारी इच्छाके विरुद्ध चेष्टा करता है तो इसमे यह न सोच कि यह मेरा बुरा कर रहा है क्योकि तथ्य तो यह है, उसने अपना काम किया तुमने अपना काम किया ।

ता० २३-३-५६

अनादिमिथ्यादृष्टि जीवको प्रथमोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न होने पर यह नियम नही है कि उस सम्यक्त्वके बाद मिथ्यात्व आवे ही आवे । इसके प्रमाण ये है—धवला ७ पुस्तक पृष्ठ २३२, धवला ५ पुस्तक पृष्ठ ११-१२-१४-१५-१६-१६ । १६ पेज पर अनादि मिथ्यात्व के बाद प्राप्त उपशमसम्यक्त्वके बाद ही वेदकसम्यक्त्व प्राप्त कर लेनेका स्पष्टीकरण है ।

अनादि मिथ्यात्वके अनतर भी सम्यक्त्वके साथ सयमासयम या सयम हो सकता है । धवला पुस्तक ५ पृष्ठ १५-१६ में भी ऐसा ही लिखा है ।

जब तक निर्विकल्प अवस्था नही हुई उससे पहिले का समय मनवाले भवमें एक एक क्षण अमूल्य है । निर्विकल्प अवस्थामे तो समयकी अमूल्यता जाननेका अवकाश ही नही, वहा तो फल ही फल है, अनुपम है वह स्थिति । वर्तमान समयको बडा कीमती समझो प्रमादने कषायमे विषयमे या निदानमें जो क्षण व्यतीत हुआ या हो उसका खेद मानो, फूलो मत ।

देखो कुछ भी जानो भूतार्थदृष्टिसे जानो, मानो । ऊधम मत मचाओ । मनको बेलगाम मत करो, मर्मरूपी पिशाच तेरे लग रहा है व लग जावेगा । यद्यपि कर्म अपनी ही परिणतिको करता है फिर भी तुम उसके सन्मुख खुदही कमजोर होकर दुष्फल पावोगे ।

२-३ दिनसे भाई पन्नालालजी उमाभाई अहमदाबाद कई समय आते है बहुत भद्र कल्यार्थी है इनको करीब १०-१५ वर्षसे दिगम्वर जैन धर्ममें रुचि हुई है और अब ये बहुत ही दृढ श्रद्धानी है, इनका धर्म ज्ञान भी सम्यक् है ।

अपने आप सहायक हो, कोई न सुख दुख दाता है ।
अच्छा बुरा करेगा प्राणी वैसा ही फल पाता है ।

ता० २६-३-५६

आत्माकी सब ससार अवस्थाओ में मनुष्य की अवस्था उत्तम है, यदि इस भव का सत् उपयोग कर लेवे। सदुपयोग यह है कि आत्मा के धर्म में श्रद्धा हो और उस पर आचरण हो। इसके लिए सबसे पहिले साधारण पात्रता तो चाहिए ही चाहिये। उस पात्रता के लाने के लिये पहिले ऐसा हृदय तो बना ही लेवे किसी जीव के प्रति अहित करने का भाव न रहे किसी को अपना दुश्मन न माने। इसका उपाय यह है कि वह अपने वचनो का नियन्त्रण रखे। जब वचन बोले मधुर वचन कहे। कपट रखकर न करे। यह बात तो कुछ जबर्दस्ती भी बताई जा सकती है।

वचनबाण शस्त्रबाण से भी तीक्ष्णधार वाला है। जो वचनबाण मुख धनुष से छूट गया वचनबाण वापिस तो नहीं आ सकता। वचनबाण छूटन से पहिले वह तुम्हारे वश में है। छूटने के बाद तुम अन्य के वश हो जावोगे अर्थात् विकल्पो के जाल बन जाओगे। देखो तो समानता शस्त्रबाण छूटने के लिए पहिले आश्रयभूत धनुष जैसा पसर जाता है वैसे वचनबाण छूटने से पहिले आश्रयभूत मुख भी कैसा पसर जाता।

ता० ३०-३-५६

कभी उपयोग नहीं लगता तो लिखने का प्रयत्न करता हू सो उस समय कोई विषय सन्मुख न होने से यह अभिप्राय होता हे कि क्या लिखू सच हे जबर्दस्ती कोई काम नहीं होता। होने को होता हे तो अनुकूलता पाकर होता है। विकल्प ज्ञान व चारित्र के परिणमन से बना वह कहीं २ गुण का परिणमन नहीं हे। यद्यपि ज्ञान जाननामात्र है फिर भी इत्या कारण जानना यही तो विकल्प का ढाचा हे अथवा ज्ञान तो जानन का ही काम करता हे उसके साथ राग द्वेष की जो तरग है वह विकल्प चारित्रगुण की विकृत पर्याय है। इसकी समझ ज्ञान पर्याय में हे। ज्ञान का ज्ञेयाकार होने को मान भी विकल्प है उसका यही प्रसगवश नहीं।

परकी ओर दृष्टि में लगना ही विपत्ति है, आत्मा ने न कभी दूसरे को देखा जाना न कभी दूसरे को कभी कुछ किया। मात्र जब तक दूसरे को

देखने जाननेकी व दूसरे को करने की मान्यता रखता है तब तक तो दुखी है और जब इस मिथ्याभिनिवेश को दूर करके उक्त सही मान्यता करके पक्ष बुद्धियो का व्यय करता हुआ स्वभावानुरूप उपयोग करता है तब सुखी है।

ता० ३१–३–५५

अहमदाबाद गोमतीपुर आज एक वैष्णव भाई ने सभा में अनुरागवश श्रोताओ को व्यंग में समझाया जो भाई सभा में आये मानो वे महाराज के अविश्वासी है और जो नहीं आये वे महाराज के पक्के विश्वासी हैं उन्हे विश्वास है कि महाराज जो कुछ कहेंगे वो सब ठीक ही कहेंगे उसमें रंच भी गलती न होगी तो आने की जरूरत ही न समझी अत महाराज के पक्के विश्वासी वे है जो आये नहीं आदि। सूक्ष्म विनोद के योग्य है।

सभा में जो २५-५० भाई अजैन आते हैं उन्हे ज्ञान के प्रति उत्तम रुचि है और जैनो की सख्या उनकी सख्याके अनुरूप न समझकर तत्वज्ञानके अनुराग वश ऐसा कह गये।

आशा ही दुख है और आशा का अभाव ही सुख है, नैराश्यामृतका अनुभवपान ही परम आनन्द का जनक है। आशा का अभाव नैराश्य निज-स्वभाव की दृष्टि से होता है। आशा रहित परिपूर्ण विशुद्ध परमात्मदेव के ध्यान में भी आशा समूल नष्ट नहीं हो सकती, क्योंकि प्रथमतो वह अनुराग-मूलक भक्तिवृत्ति है दूसरे परमात्मा पर पदार्थ है। एतद्विषयक उपयोग अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं होता किन्तु स्वतोस्थ ही है। स्वभाववृत्ति के लिए अनुराग की प्रेरणा नहीं है अत आशा का अभाव आशारहित ध्रुव सहजसिद्ध निजस्वभाव के अवलम्बन से होता है परन्तु निरंतर स्वभाववृत्ति बनावे तब। अन्यथा थोड़े काल स्वभाव दृष्टि रही और फिर च्युत हो जावे तब वहां भी समझना कि आशा संस्कार में भी फिर विकास हो गया। लेकिन यह अभ्यास अवश्य आशा के समूल नाश का उपाय है।

ता० १–४–५६

अहमदाबाद शाहपुर– –आज श्रीमद्राजचन्द्र विद्याशाला में प्रवचन हुआ, कुछ एकान्तैकाभिमत वालों का हृदय देखा। श्री मद्राजचन्द्रकृत "अपूर्व

अवसर" आदि भजन पर प्रवचन था। उनके इस भजन में शुरु से अन्त तक बाह्य सयम में नग्न दिगम्बर को उत्तम कहा। एक पद में नग्न भाव मुण्डभाव सह अस्नानता आदि में तो स्पष्ट नग्नता का उल्लेख किया। श्रीमद्राजचन्द्र के जीवन चरित्र व साहित्य को देखकर मुझे बहुत वर्षों पहिले से श्रीमद् के प्रति अनुराग है। उनकी सद्‌भावना को समझकर उनकी निर्मलता के प्रति आदरभाव है। यहा भी अनेक लोगो को आदरभाव है किन्तु देव शास्त्र गुरु का सत्य श्रद्धान् प्रत्यक कल्याणार्थी को होना चाहिये। श्रीमद् के अतिरेक भक्तो के प्रति प्रवचन में यह सुझाव दिया कि श्रीमद् की सेवा उनकी आज्ञा मानने में है। उनकी आज्ञा है कि सद् देव सत शास्त्र सद् गुरु की पहिचान करो। उन्होने गुरु का लक्षण इसी पद्य में कहा है। श्रीमद्राजचन्द्र के फोटो के सामने खडे होकर या बैठकर या स्वाध्याय के बीचो बीच देखकर यह भाव करो कि श्रीमद्राचन्द्र यद्यपि साधु नहीं थे प्रतिमाधारी श्रावक भी नही थे तथापि उनकी आत्मनिर्मलता कितनी विशेष थी कि उन्हे परदृष्टि परचर्चा सुहाती भी न थी नीति, आत्मभावना की वृद्धि रहती थी, ऐसा सोचते हुए अपने आप में स्वभावदृष्टि का उत्साह बढावो। उनको सद्‌गुरु मानना और झुककर नमस्कार करना। उनही के वचको की अवहेलना है।

ता० २-४-५६

श्रीमद्राजचद्र ने अपने जीवनकाल में किसी को इस प्रकार की इजाजत नही दी और न कराया। श्रीमद्राजचद्र की बात मानो सम्यक्त्व को जगावो और सम्यक्त्व में दूषण न लगावो। अभी एक भाई तो इतना गजब कर गये कि श्रीमद् के फोटो के पास जो एक सेठ का फोटो लगा है उसके जूते को छूकर नमस्कार कर गये। अपने आत्मा का मूल्य समझो। श्रीमद्राजचद्र उपकारी जीव हुए परन्तु जैसा उन्होने बताया वैसा मानो, यही उनकी सच्ची सेवा है। भैया उनकी सच्ची सेवा यह होगी कि इस शाला में घन्टे आध घन्टे बैठकर नियमित स्वाध्याय करें व घन्टे आध घन्टे पठन पाठन व तत्त्वचर्चा द्वारा अपने ज्ञान को बढावें और यथाशक्ति सयम द्वारा अपने को निर्मल बनावें। समस्त पक्ष को छोडकर आत्मा को आत्मा मानें एक मात्र आत्मपक्ष

रहे, आत्मा का जैसा स्वरूप है उस प्रकार अपने आपको चलावें।

वस्तुत तो कोई किसी का आदर नही करता, भक्ति सेवा नहीं करता। अपनी ही भक्ति और अपनी ही सेवा करना प्रत्येक परके सम्बन्ध में कुछ भी सोचे वह सोचनारूप कार्य खुद ही का परिणमन तो है। जैसा सोचता है वैसा परिणमन कुछ अशो में होता है उसका अनुभवन सोचनेवाला करता है परका अनुभवन कोई पर कर ही नही सकता जब खुद का ही अनुभव होता है तो कुछ उस खुद का निज स्वभाव भी तो जान लेना चाहिये। अपने मर्म को समझिये और औरो के ज्ञान वृद्धि में सहायक होइये। हमारी आप सब भाइयो के प्रति सद्भावना है।

ता० ३–४–५६

निमित्त को पाकर उपादान विभाव परिणमन करता है किन्तु वह व्यवस्था इस प्रकार हे उपादान निमित्त को पाकर अपनी योग्यता के अनुकूल अपने चतुष्टयसे विभावरूप परिणमता है। निमित्त को पाकर परिणम जाता यह निमित्त का स्वभाव नही कार्य नही किन्तु उपादान का स्वभाव है कार्य है उपादान का ही ऐसा स्वभाव हे कि वह मलिन हो तो अपनी योग्यतानुसार अपना असर प्रकट कर लेता निमित्त को पाकर। ऐसा नही है कि निमित्त परिणमा देता है और ऐसी भी नही हे कि उपादान को जब जिस विभावरूप परिणमता परिणमा है उस समय जो सामने पड जाय उसपर निमित्त का आरोप होता है। यदि ऐसा है तो सामने अनेक पडे हें किसी एक को निमित्त क्यो कहा जावे। यदि कहो तो अनुकूल है वह निमित्त है तो यही अनुकूल कहा जावे अन्य नही इसका कारण

ता० ४–४–५६

सर्वज्ञदेवने समस्तद्रव्य समस्तपर्यायो सहित जाने हें तब जो होना है सो होना ही है और उस समय निमित्त भी हाजिर रहेगा यह बात भी ठीक है इसका स्पष्ट उत्तर यह समझो कि जब जिस जिस विधान से जो होना है सो होगा उसे सर्वज्ञने जाना। द्रव्यसे पर्याय तो प्रकट होती है परन्तु द्रव्यमें सदा एक ही पर्याय रहती है उसमें भविष्यकी पर्यायें भरी हुई नही रहतीं।

परिणतियो रूप परिणमनेकी शक्ति है। मलिन आत्मा आगे किस रूप परिणम जावे यह द्रव्य में पहिले बधा हुआ नहीं है, वह निमित्तको पाकर विभाव परिणामसे विकसित होता है। ऐसा होने पर भी उपादान और निमित्त अपने अपने कार्यके लिये बिल्कुल स्वतत्र है।

आत्मानदार्थीको यह श्रद्धान पक्व रहना चाहिये—कि मै कुछ करता हू तो अपनेको ही करता हू, कुछ भोगता हू तो अपनेको ही भोगता हू। पर-द्रव्यको परमाणुमात्रको भी मै कर नहीं सकता—और न पर द्रव्यको कभी लेशमात्र भी भोग सकता। मेरी क्रिया व मेरा भोग मेरे चतुष्टयसे मेरे चतुष्टयमें है। इसी प्रकार सभी प्राणियोकी बात है कि प्रत्येक द्रव्य कुछ करताहे तो अपनेको ही करता हे और कुछ भोगता हे तो अपनेको ही भोगता है। तब जैसे मैं अन्य द्रव्यका कर्ता भोक्ता नही वैसे अन्य द्रव्य भी मेरे कर्त्ता भोक्ता नहीं है। प्रत्येक द्रव्य स्वमें तत्र है, परके चतुष्टयसे अत्यन्त विविक्त होनेसे इच भी परके तन्त्र नहीं हे।

ता० ५–४–५६

जिसको कल्याणकी वाञ्छा है वह इन तीन बातोका शक्ति न छुपाकर पालन करता रहे—१ स्वाध्याय। २ ब्रह्मचर्य। ३ शुद्ध भोजन। स्वाध्याय ४ भागोमें बाटें--१ प्रवचन सुनना या करना। २ विद्यार्थीकी भाति कोई ग्रन्थ पढना। ३ तत्त्व चर्चा करना। ४ एकान्त में किसी ग्रन्थका स्वाध्याय करना।

ब्रह्मचर्य पालनके लिये यदि आजीवन ब्रह्मचर्य लेवें सो बहुत ही उत्तम हे। यदि कमजोर बने तो प्रतिमाह २५-२६-२७-२८-२९ दिन आदि इस प्रकार से ब्रह्मचर्य का सकल्प करके गृहस्थ पालन करे तथा इस सकल्पके पश्चात् भी यथाशक्ति आत्मवीर्य प्रकट करके अवशिष्ठ दिनोमें भी ब्रह्मचर्य को उपासना करे। ब्रह्मचर्य पर तप इस शक्ति का आदर करे।

शुद्ध भोजन, ऐसा भोजन करे कि अचानक भी कोई ब्रती आ जावे तो उन्हें भी वह आहार करा सके। इतना न हो तो कम से कम इतना तो करे ही करे -दुहरे छन्नेसे छना हुआ जल, हाथ चक्कीका आटा, शोधे हुए दाल

चावल, मर्यादाके अन्दर छानकर गर्म किया हुआ दूध, तुरन्त तपाया गया घी याने मक्खन निकलने पर पौन घन्टाके अन्दर तपाया गया घी। इत्यादि रूपसे शुद्ध भोजन होना ही चाहिये।

भ्रमणमें स्वाध्याय ठीक नहीं हो सकता इसमें एक कारण तो यह है कि ग्रन्थोका सग्रह तुरन्त नही मिलता और कहीं तो मिलताही नही और दूसरा कारण यह है कि अभी आये सो कुछ समय शेष विकल्प में और परिस्थितिमें चला जाता और जाना हैं उनसे पहिलेसे कुछ समय इसी प्रकार चला जाता है।

ता० ६-४, ५६ कलोल

आज हमारा ऐसा परिणाम हुआ है कि आजीवन निम्नप्रकार जो नियम पालन करे उसके हाथ का भोजन लेना।' यद्यपि प्राय ऐसाही होता था तथापि कुछ अपेक्षाकृत छोटीसी कमी कर देनेवाले भी मिल जाते थे। सो अब विधिविधानसे ऐसा हो तो और उत्तम।

१. मद्यत्याग, २. मास त्याग, ३ मधुत्याग ४ उदम्बरफल गोभीफूल का त्याग, ५ परस्त्री व वेश्या सेवन शिकार का त्याग, ६ पेय फल व औषधि के अतिरिक्त रात्रिको सब वस्तुओ खाने पीने का त्याग ८. प्रतिदिन कुछ समय प्रभुभक्ति व स्वाध्याय करना।

आत्मदृष्टि इतनी दृढ हो जाना चाहिये कि कदाचित् सर्प भी काटने आ रहा हो और ज्ञानमें आ जावे तब भी यह मुझे काटे नही याने शरीर को डसे नहीं, शरीरसे वियोग न हो मुझे अभी और धर्म साधना है। आदि विकल्प न हो। ऐसी स्वात्मदृष्टि अवश्य आत्मा का उद्धार करती। ऐसी आत्मदृष्टि दृढ करनेके अर्थ अभीसे अभीक्षण या बहुत आत्मज्ञानोपयोग रहना चाहिये। कि किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ॥ विद्याधन सर्वधन प्रधानम् ॥ विद्या आत्मविद्या है।

आज कलोलमें प्रवचनके बाद धर्मशिक्षा सदन की स्कीम रखी जो सबने स्वीकारकी, कुछ योजना बनी। कल इसका उद्घाटन होगा। इसका श्रेय श्री सोमचन्दजी भाई को है। ये भाई अच्छे पडित और सरल मनुष्य हैं।

ता० ७-४-५६

आत्मामें अशुभोपयोग न आवे यही बात हो जावे यही बडी बात है इसके अर्थ निज विशुद्ध चैतन्यस्वरूप व परमात्मस्वरूप एव श्रमणस्वरूप पर दृष्टि रहना चाहिये। मैं चैतन्य मात्र हूँ, मेरा अन्य कुछ भी नहीं है, यही भी तो मेरा नहीं जिस विकल्प और परिणति पर इतराते रहते हैं अविवेक अन्धकार का प्रारम्भ तो यहींसे ह। जो स्वभाव विभाव का विवेक न हो और विभावसे दृष्टि हटकर स्वभावकी ओर न रहे, विभाव ही जिनकी दृष्टिमें उनका सर्वस्व है उनके लिये शिवमार्ग नहीं हे, विपत्ति के गड्ढेमें ही सडना बदा हे।

परवस्तुके जाननसे बुराई नहीं है, निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध जाननेसे बुराई नहीं हे, बुराई हे एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ कर्ताकर्मसम्बन्ध मानने- में। निमित्तनैमित्तिकसम्बन्धके विरोधकी महिमा नहीं होती किन्तु महिमा द्रव्यकी स्वतन्त्रताकी दृष्टिकी हे। जिनकी दृष्टि निर्मल हे निष्पक्ष हे वे सब कुछ जानते हुए भी स्वभावावलवनसे च्युत नही होते। जिन्हे यथार्थ ज्ञान हुआ ह उनकी सर्व विपत्तिया शान्त हो गई। जिन्हे यथार्थ ज्ञान नही हुआ वे अपनी वुद्धिके अनुसार सुखके अर्थ यथा तथा कल्पनायें करके विह्वल होते रहते हे, और जव अपने आपमें आनन्द प्राप्त नही कर सकते तो अपनेको मैं अमुकका जीव हू अथवा तीर्थंकरसे ज्ञानकिरणें जैसे भगवानकुदकुदको मिली वैसे उनसे श्री अमृतचन्द्र सूरिको मिलीं और अमृतचद्र सूरिसे हममें किरणे घुस गई अथवा मैं ही सद्गुरुदेव हू आदि सदृश सरीखी बातोकी प्रसिद्धि करवाकर जीवन बिताना पड सकता है, इतने पर भी शान्ति आना तो मोहमें असम्भव हे सो ऐसी ही फोटो अथवा मूर्तिवनवाकर धर्मप्रवाहको कलकित करनेकी नौबत आजाती हे।

ता० ८-४-५६

पहिले कवि किरणें घुसानेका अलकार उनको देते थे जो आमने सामने होते थे किन्तु अव बीचमें बडे बडे साधु पुरुष महापण्डित हो गये हे उनमें किरणें न घुसाकर अपनेमें यदि कोई प्राणी किरणें घुसवाने में पुण्य समाप्त कर दे तो इसका मूल मोह मिथ्यात्वसे अतिरिक्त अन्य क्या हो सकता है? मोहकी

लीला अपार है - कहीं लोगोंकी पूर्वाचार्योंकी कृतिपर श्रद्धा न हो जावे अन्यथा मेरे शासनका माहात्म्य क्या रहेगा एतदर्थ अब तक के सब शास्त्र जो सीधा अर्थ कहते हैं वह ऐसा नहीं है किन्तु मैं कहता हूँ वह ही है आदि कह कर लोगोंकी श्रद्धा एकत्रित होकर मुझमें ही रहे इस तरहका भी यत्न मोह करवा सकता है। वर्तमान साधु, पण्डितोंकी ओर (तरफ) लोगोंकी श्रद्धा न बढ़ जावे एतदर्थ उन सबको दोषपूर्ण कह कर मुग्धमनमोहक स्वच्छंद व्यवहारकी ओर उत्साह दिलाना और केवल मुझमें ही लोगों की श्रद्धा रहे इन अध्यवसानोंको बढ़ा देना भी मोह की कला है।

रे मोह तू सहजभाव नहीं है, नैमित्तिक है, तू मिटनेवाला है, अहो जिनकी दृष्टि में मोह सहजभाव है उन्हें मोह परेशान न करे तो क्या ज्ञानियों-को परेशान करे ? यथार्थ भेदविज्ञान वालेको मोह कभी नहीं सता सकता। जो मोहके दास हैं उन्हें ही मोहभूत लगता है।

हे चैतन्य प्रभो ! प्रसन्न हो ओ, सबको सन्मति प्राप्त होवे। यह वस्तुधर्म–जैनधर्म ही उत्तम सिद्धान्त है फिर भी यह जगत में प्रसिद्ध नहीं हो सका इसका क्या कारण है ? इसके उत्तरमें श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्राचार्य ने लिखा है कि "काल कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतु प्रवक्तुर्वचनानयो वा,–त्व-च्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मीप्रभुत्वशक्तेरपवादहेतु।" अर्थात् हे वर्द्धमान देव तुम्हारा शासन सर्व हितकारक है उसके एकाधिपत्यकी प्रभुता है फिर भी यह क्या है प्रसिद्ध नहीं है इसके ३ कारण हैं--(१) कलिकाल, (२) श्रोताओंके कलुष आशय (३) वक्ताओंको नयोंका ज्ञान नहीं अन्यके २ हेतु बहुजनताकी अपेक्षा हैं। नरेंद्रिनुमार्वनाशि निजज्ञानभासमें अविचल विश्राम करो।

ता० ९-४-५६

पूर्व पुरुषोंके चरित्र तो देखो – आदिनाथजी का, पाण्डवोंका, राम-चन्द्रजी का, कृष्णचन्द्रजीका आदि अनेक महापुरुषोंका कुटुम्ब था फिर उन कुटुम्बका क्या हुआ ? पहिले तो सब प्रकारका ठाट बाट मोह हुआ फिर मोहित हुए पश्चात् पश्चात् क्या हुआ ? सब बिखर गये। कोई कहीं विरक्त हो गया कोई कहीं विरक्त हो गया, कोई बिना त्यागके मरा कोई

विरक्त योगी हो निर्वाण पधारा। यहा कोई जमकर नहीं रह सका। फिर सयोग इच्छा क्यो ? सब अध्रुव है, अध्रुवसे उपयोग बदलकर निज ध्रुव परम पारिणामिक भावरूप निज स्वभावमय अपनी प्रतीतिकर, चचलदृष्टिको तज।

आजकल कहीं कहीं आरोपित निमित्तकी साधारण वार्ता लाकर पूछते हैं कि वस्तुमें क्रमबद्धपर्याय हैं सो जब जो परिणमन होता है सो होता ही है निमित्तकी आवश्यकता नही है। निमित्त हाजिर हो जाता है। इस वेतुकी भाषापूर्ण प्रश्नका उत्तर देते हुए मुझ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध का यथार्थ वर्णन करना पडता है किन्तु मुझे उस समय खेद अवश्य होता क्योंकि मेरी रुचि, इच्छा, उत्सुकता व प्रकृति स्वभावदृष्टिकी है। मै एक ही को एक में देखना चाहता हू। क्योंकि निमित्तदृष्टिसे अथवा नैमिवितक दृष्टिसे व सयोग-दृष्टिसे मेरा हित परिणमन नहीं होगा परन्तु तथ्य के विरोधसे भी तो हित नहीं है। जिनागमके अनुसार तो उत्तर देना ही होगा। यदि लोग एक बार यथार्थ विज्ञान करलें और फिर आमरण भी निमित्तचर्चा छोडकर स्वभावाव-लवनमें ही जुटे रहे तो भलाई है, परचर्चा में फसे रहना ठीक नहीं है।

ता० १०-४-५६

पर्यायको गौणकर द्रव्य देखा जाता है फिर त्रिकालकी सब पर्यायोको जाने तब द्रव्य समझा जावे यह बात विरुद्ध है किन्तु कहीं जो यह लिखा जाता है कि त्रिकाल पर्यायोका समूह द्रव्य है वह द्रव्यकी अनादिनिधनता का प्रदर्शन करनेके प्रयोजनको पुष्ट करता है।

द्रव्य सदा वर्तमान वर्तमानपर्यायमात्र है, द्रव्यस्वरूपको जाननेके लिये उस पर्यायको भी गौंण करके पारिणामिक भावमात्र प्रतिभात रहता है।

"सम्मत्तस्स विमित्त" आदि गाथाके अर्थ २ प्रकार से है-- १ सम्य-क्त्वका बाह्य निमित्त जिनसूत्र और उसके जाननेवाले पुरुष है तथा दर्शनमोहके उपशम, क्षय, क्षयोपशम अन्तरग कारण हैं। २ सम्यक्तवका निमित्त जिन-सूत्र है और अन्तरग कारण अर्थात् उपादान कारण जिनको सम्यग्दर्शन हो रहा है वे जिनसूत्रके ज्ञायक आत्मा है क्योंकि उनके दर्शनमोहके क्षय, उपशम, क्षयोपशम होनेसे।

उपदेष्टा दूसरेको अन्तरग कारण कैसे हो सकता है क्योकि वह भिन्न-क्षेत्रस्थ हे ऐसे पर द्रव्य है जिनसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध नहीं, आश्रय-सम्बन्धमात्र है। दर्शनमोहके क्षयादि आत्माके एकक्षेत्रावगाहमें रहनेवाले वर्गोंकी ही तो आखिरी अवस्था हे सो उसे अन्तरग कारण कहा जा सकता है तथा यद्यपि ये पर द्रव्य हैं तथापि कर्मक्षयादिका सम्यक्त्वोत्पत्तिमे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हे अत अन्तरग कारण कहा हे। यहा अन्तरग कारण का अर्थ अनिवार्य निमित्त कारण समझना।

उपादानदृष्टि से सम्यग्दर्शन उत्पन्न करनेवाले ज्ञानीको अतरग कारण कहते हैं—इस एक आत्मामें कार्य कारणका भेद किया है इसलिए इस मुमुक्षुको उपचारसे अतरग कारण कहा है याने भेददृष्टि से उस खुदकी आत्माको सम्यक्त्वका अतरग कारण कहा है। यहा भेददृष्टि को उपचार समझना क्योकि वस्तुत आत्मा अभेदस्वरूप है।

ता० ११–४–५६

एकत्वदृष्टि आत्मीय आनद व चरम आत्मविकास का अमोघ मूल उपाय है, एतदर्थ यह अभ्यास चाहिये--एक वस्तुको देखे जाने, विकल्प होने पर उस एक ही वस्तुके द्रव्य गुण पर्यायोको जाने। कारकपद्धति उस एक ही वस्तुमें लगावे। उस एक ही वस्तु सबधी वितर्क करे इस प्रक्रियासे पुन एक ही वस्तु को देख जानेकी स्थिति प्रगट होती है। पुन विकल्प होने पर उसी अभिन्न विचारपद्धतिका अनुसरण करे।

द्रव्य और द्रव्यस्वभाव इसके परिश्रमकी अपूर्व महिमा है। जगतमें विविध ग्रन्थोका परिचय जीवोने किया किन्तु उनसे शाति तो क्या मिले—अशाति ही बढ़ती गई है। निजस्वभाव जोकि परम पारिणामिक भाव है कारणसमयसार चैतन्यस्वभाव, ध्रुवभाव, अभेदभाव, सहजसिद्धतत्त्व, सहज-स्वभाव आदि जिसके अपरनाम हैं और विविध वाच्यतासे गम्य जो एक है उसका परिचय व अनुभव करे तो सब आकुलतायें समाप्त हो जावें।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की परिणति नहीं करता। हम भी परमाणुमात्र किसी भी अन्यकी परिणति त्रिकालमें कर सकते नहीं है। पदार्थ ही सब कैसी

कैसी परिस्थितियोमें कैसा परिणम जाता है वह परिणमनमान पदार्थके ही बुते का है। देखो इस एकत्वदृष्टिकी महिमाको। यहा कोई एक वह स्वयसिद्ध, एकही स्वभाव दीखता वह भी स्वयसिद्ध, एकपर्याय दीखता वह भी स्वय-सिद्ध, भविष्यमें जो पर्याय प्रकट होगी वे भी प्रत्येक स्वयसिद्ध। स्वरूपमें अद्वैत ही प्रतिभास है। अद्वैतबुद्धिसे ही सिद्धमार्ग है, अद्वैतअनुभवसे ही सिद्धि है, अद्वैतपरिणमन ही सिद्धि है।

ता० १२-४-५६

निमित्त उपादानकी चर्चावोके व्यसनी व्यर्थ जीवन बिता रहे हैं। एक दिन सब निर्णय करके फिर आमरण स्वभावदृष्टि रख रखकर समय का सदुपयोग करने का बल क्यो नहीं प्रकट करते। वास्तविकता तो यहा यह प्रतीत होती है कि लोगोको अनिर्णयकी शल्य नही है किन्तु पर्यायबुद्धि-वश अपने पूर्व होगई मान्यता व निकल चुके वचनोके पक्षकी शल्य होगई क्योकि जैन महर्षिके सद्वचन स्पस्ट शीघ्र निर्णयके निमित्त सन्मुख हैं। अनिर्णय की शल्य तो कुछ भी पढे लिखे को रह नही सकती यदि जिनागम उनके हस्तगत हो। यहा यह हो सकता है कि वस्तुस्वरूपके अनुसार निज का अनुभवन चाहे कर न सके। किन्तु ज्ञानकी शक्ति पर्यायविकासरूप जिनने पाई वे जिनागम पा लेंवे और अनिर्णयमें रह जावे यह कठिन है। रही अनुभवकी बात सो वह स्वरूपाचरणसाध्य होनेसे ज्ञानके कामसे कथचित् बाहर की बात है। इसलिये अनिर्णयकीशल्य पढे लिखोको नही हो सकती। अत जिन्हे अपना कल्याण करना हो वे मन वाणी मुद्राके पक्षको छोडें और हित-बुद्धिसे तत्त्वमें अपना उपयोग जोडें।

णाह होमि परेसिं ण मे परे सति णाणमहमिक्को।
अहमिक्को खलु सुद्धो दसणणाणमईओ सदारूवी॥
अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदसणसमग्गो।
णाह देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारण तेसिं॥
णत्थि मम कोवि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
णात्थिमम धम्मआदी बुज्झदि उवओगएव अहमिक्को है॥

ता० १३–४–५६

जिन पदार्थोंको विषय करके राग लगा रहता हे उन पदार्थोंके क्षेत्रको छोडकर अन्यत्र चले जाना व उन पदार्थोंकी क्षेत्रान्तरित हो जाने तेना विरागता उर्फ शान्तिका वाह्यसाधन है। कल्याणार्थी को ऐसा करना चाहिये। ऐसा करने के लिये बडी उदारताकी आवश्यकता है नही तो देख ही तो लो रागमें वह चीज भरनी हितकारी प्रतीत होती है उसका त्याग कैसे करे। यह तो ज्ञानियोका ही कार्य है। पुन बाह्य विविक्त स्थानोमे रहते हुए अन्तर विविक्त भावमें रमते हुए स्वानुभूति स्वरसको रसते हुए वर्तमान चैतन्य-विलासके द्वारा चैतन्यस्वरूपकी एकाकारतामें रचते हुए जिन अस्तित्वमें वर्तें। यही योगोमें योग हे महायोग है, परमचमत्कार है, परम अतिशय हे, सर्वसिद्धि है, निजलक्ष्मीका परम प्रसाद है।

दूसरोके लिये कुछ नहीं करना है, अपनेलिये अपनेमें अपन द्वारा मात्र अपने वर्तनसे वर्तना है। ज्ञानका विषय अन्य भी जो चाहे वना रहे कुछ बिगाड नही है। जगत को चुनौती है- एक एक अणु भी अथवा समस्त चेतन अचेतन पदार्थ क्रमसे अथवा एक साथ मुझपर आक्रमण करदें। परन्तु दृष्टिका विषय ध्रुव निज चैतन्य स्वभावरूप परमपारिणामिक भावके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मत होओ वह चाहे परक्षेत्रस्थ पदार्थ हो या स्वक्षेत्रस्थ पर पदार्थ हो या स्वक्षेत्रस्थ पर निमित्त हो या स्वमें नैमित्तिक भाव हो या स्वभावकी अविपरीत अधूरी अवस्था हो या स्वभाव का परिपूर्ण विकास हो। मुझे वह सब अध्रुव कुछ नहीं देखना। निज ध्रुव चैतन्यस्वभाव के अवलबनद्वार से स्वभावका अधूरा व पूर्ण विकास होगा ही किन्तु विकासकी दृष्टि बनावोगे तो विकाससे वञ्चित होकर विरुद्ध विकास की भेंट पावोगे।

ता० १४–४–५६

पुण्यपाप फल माहि हरष विलखो मत भाई।
यह पुद्गल पर्याय उपजि विनसै फिर थाई॥
लाख वात की वात यही निश्चय उर लावो।
तोड़ सकल जग दद फद निज आतमध्यावो॥ (छद०)

एक स्वदृष्टिसे निज आत्मको देखते जावो, विचारने जावो, आनद पाते जावो। आत्मा एक अखड है उसका स्वभाव कहो, सामर्थ्य कहो या गुण कहो या पारिणामिक अब कहो वह एक अखड है। आत्मा का पर्याय एक अखड है। उपचारसे याने भेददृष्टिसे गुण अनत और वर्तमान पर्याय अनत है। प्रति वर्तमानमें एक एक पर्याय होती चली जाती है, याने होती चली जावेगा व होती चली आई आई है। द्रव्य स्वभावसे परिणमनशील है सो जब जो परिणमन होगा तब वह परिणमन न होगा हो। वह सब आत्मावोका अपने अपने चतुष्टय से है हुआ होगा। देखो एकत्वदृष्टिसे च्युत न होगा। एकस्वप्न हक निश्चयनयसे देखनेकी ड्यूटी पूरी निभाओ, निभावो और तक निभावो जब निभना स्वय छूट जावे, निर्विकल्प ध्रुवस्वभावमें वर्तमानज्ञान परिणाम एकाकार हो जावे।

देखो आत्मपर्याय आत्मद्रव्यसे हो रही है, इन दोनोको सन्मुख करो, स्वय ही द्रव्यमुख्य हो जावेगा और पर्याय गौण होजावेगी और द्रव्यदृष्टि भी तदनतर हरकर आत्म अर्थ का अनुभव होगा।

ता० १५–४–५६

निमित्तनैमित्तिकसम्बन्धके निषेध करनेमें अपनी शक्तिका अपव्यय करनेसे अच्छा तो यह है—कि निमित्त अथवा नैमित्तिक व सम्बन्ध इन तीनो की चर्चा छोडकर भूतार्थनयसे आत्मा व आत्माके तिर्यक् व ऊर्द्ध्वविलासोको जाने और समझानेसे प्रसगमें इसही भूतार्थनयकेगम्य तत्त्वोका प्रतिपादन करे। यदि कोई इसही भूतर्थनयका अवलम्बन लेकर एक तत्त्वको ही देखा जाना करे तो इसमें कोई हानि नहीं लाभ ही है किन्तु आत्माके ज्ञानस्वभाव होनेसे इस हितैशीको भी इस मोटें और आप पर बीती हुई घटनाके जाननेके लिये जिज्ञासा उत्पन्न होगी ही और फिर यथार्थनिर्णयके अभावमें नि शक स्वपथमें बढ नही सकता। इसलिये अपने आपपर दया करके जिनागाम और युक्ति के अनुकूल रागादिकी विविधता कैसे हुई इसका निर्णय कर लेना चाहिये और यह निर्णय स्वयको होगया तब इस निर्णयके विरुद्ध अपनी वाणीके पक्षसे दूसरोंको कह कर मायाचारके शस्त्रसे आत्माकी हत्या नहीं करना चाहिये।

कुछ नये सखो यह भूल होना प्राकृतिकसी है कि उन्होने धन वैभव स्त्री पुत्र परमात्मा समवशरण आदि बाह्य जोकर्मोंको निमित्त समझ लिया है। ये निमित्त नहीं किन्तु आश्रय या विषय हैं। विषयकी बाततो ऐसी है कि जब हम उनपर दृष्टि दें तो उनपर आश्रयरूप निमित्तका आरोप होता है किंतु द्रव्यकर्मको तो हम जानते ही नहीं है हम उसपर दृष्टि क्या देंगे और तब दृष्टि नही देसकते तो फिर हम आरोप ही क्या करेंगे। वह तो यहि निमित्त है तो निमित्त है और नहीं है तो नहीं है किन्तु वह आरोपित निमित्त कभी नहीं होता। आरोपित निमित्त तो विषय है।

ता० १६-४-५६

यदि प्रकत्युदय आरोपित निमित्त है तो आत्माके नैमित्तिकभाव होने सेपहिले वह कर्म सर्व वर्गणावोकी तरह एकसा पुञ्जरूप याने ढेर रहना चाहिये किन्तु आत्माके कषायादि भावोको निमित्त मात्र पाकर जब कर्मबध हुआ तब उस ही समयमें उन वर्गणावोंमें प्रकृतिविभाग हो गया कि ये ये वर्गणायें अमुक अमुक विभागमें निमित्तरूप हो सकेंगे और उस ही समय स्थितिविभाग हो गया कि अमुक अमुक वर्गणायें इतने इतने समय तक रहेंगी व उस ही समय अनुभाग विभाग भी हो गया और प्रदेशविभाग भी हो गया। यदि आरोपकी ही बात है तो पहिले हुई यह परिस्थिति तो सब व्यर्थ हो जावेगी, क्योकि नैमित्तिक भाव होते समय जो सामने आपडे गधा, कुत्ता वगैरह उनमें निमित्तका आरोप हो जावेगा। अनुकूल निमित्तमें आरोप करने की जिरह करो तो अनुकूल निमित्त में आरोप करनेका तथ्य निमित्तनैमित्तिक भाव है। जैसा उपादान जिसको निमित्तपाकर जिस विभावरूप परिणमजाता है वह उसका अनुकूल निमित्ति कहलाता। परिणमनेकी विशेषतय उपादान की है निमित्तसबध एक विधान है।

यदि बहादुरी इतनी और कर लीजावे कि आरोपकी भी जरूरत नहीं तो "अमृनचन्द्र सूरि की अनगिनती किरणें हमारे दिमागमें घुस गईं" इसका चित्रण कुछ भाइयोंके दिमागमें घना फिट शायद बैठ जावे। यद्यपि अब तक श्रीजिनसैनाचार्य, समन्तभद्राचार्य, अकलक देव, ब्रह्मदेव, जयसैनाचार्य,

योगीन्द्रदेव आदि निर्ग्रंथ आध्यात्मिक महापुरुष हुए और अतिनिकट में प० टोडरमलजी, जयचन्दजी, बनारसीदासजी, शाह दीपचन्द जी आदि आध्यात्मिक महापुरुष हुए व वर्तमानम भी अनेक हैं परन्तु उनमें व उस समयके भक्तोंमें समारपटुता न होने के कारण कीर्ति फैलाने की कला याद न होनेसे किसकी किरणें किसमें घुसी यह चित्रण नहीं हो सका था। अब क्या हो सो कलिकाल-के गर्भमें है। खैर अब तो राजको भी स्वभाव बना लेने वाले भाइयो को यह चाहिये कि जीवन भरका झगडा न रख कर एक ही दिनमें व्यवहारनयका विषय यथार्थ समझ लें और फिर आमरण भी उसकी दृष्टि चर्चा न करके भूतार्थनयका अवलबन लेकर फिर समस्त नयपक्षोसे अतिक्रान्त होकर शुद्ध चैतन्यमात्र परमपारिणामिकभावस्वरूप निज ध्रुवस्वभावका स्वभावानुरूप विलास द्वारा अनुभव करें जिससे सर्व क्लेश समूल दूर हो।

ता० १७–४–५६

सामर्थ्य पुरुषार्थकी विशेषता तो इसमें है कि निमित्तनैमित्तिक-सबधकी विशेषता होने पर भी द्रव्यकी पूरी पूरी स्वतन्त्रताका देखना जानना रहे। प्रत्येक द्रव्य अपने चतुष्टसे ही परिणमता है अन्यकी सहायता या परिणतिसे नही परिणमता। कोई किसी भी विधानसे परिणमो, परिणमरहा है अपनी स्वतन्त्रतासे। भूतार्थनयके अवलम्बनसे स्वतन्त्रताकी पक्की प्रतीति कर लेना चाहिये।

ध्रुव चैतन्यस्वभावके दर्शनअनुभवन हो एतदर्थ तत्त्वोका परिज्ञान आवश्यक हुआ। इस कार्यके अनुकूल वह परिज्ञान है जो कि वस्तु जिस प्रकार है उस प्रकार जाने। द्रव्य अनादिनिधन है वह अभी तक अपनी अनन्त पर्यायरूप हो चुका व वर्तमानमें एक पर्यायरूप है और भविष्यमें प्रति समय एक एक पर्यायरूप हो होकर क्रमश अनन्त पर्यायरूप होवेगा। कल जो होना होगा वह कल होगा तुम अभी विकल्प करके निर्विकल्प साम्राज्यसे क्यो च्युत हो रहे हो, ऐसा सोचकर स्वभावदृष्टिपर आना। हमारी पर्यायें हमारे परिणमन हैं। परिणमन जो है वह स्वभावकी वर्तमानदशा है, उस स्वभाव की वर्तमान दशाको अन्य कोई पदार्थ नहीं करता। परिणमनशील होनेसे पदार्थका परिण-

मन उससे ही होता है। ऐसी प्रतीति कर जिस स्वभाव के वे परिणमन हैं उस स्वभावकी दृष्टिपर आना। सर्वज्ञदेव अथवा अवधिज्ञानी आदि जिसने जब जहा जिस प्रकारसे होना जाना है तब वहा उस प्रकारसे होना हे फिर विकल्प क्यो करना क्योकि उसके विरुद्ध कुछ भी नही होना इसका भी कारण यह हे कि जब जो कुछ होना है वही ज्ञानीने जाना हे तभी वह सच्चा ज्ञान है। अब विकल्प क्यो करना। ऐसे विकल्प न होनेकी स्थिति पाकर स्वभावदृष्टिमें वसने का उपाय पाकर निर्विकल्प होओ।

ता० १८-४-५६

सर्वज्ञ देवका ज्ञान सबको विकल्प न करके जानता है। कैसा है वह ज्ञान ? उसकी महिमामें उपयोग देने पर आत्मामें निर्विकल्प स्थितिका प्रतिभास होता हे सो ऐसे ज्ञानस्वभाव को छूकर स्वभावदृष्टि में आ जाना।

आत्मामें रागादिक है तो स्वयकी परिणति किन्तु आत्मा स्वय निमित्त होकर या पर निमित्त सयोगविका रागादिभावोका कर्ता नहीं। रागादि होनेमें पर द्रव्य निमित्त है सो उसके अनुकूल सम्बन्ध रूप उपाधिको निमित्त पाकर ही रागादिक होते हे सो स्वय उपाधिको अभाव रहकर रागादिका कर्ता आत्मा नही। (समयसार गाथा २७८-२७९)

मैं तो ज्ञानमात्र हू, मेरा जानना स्वयका कार्य है, मै ज्ञाता हू, रागादिका कर्ता नहीं हू ऐसी प्रतीति कर स्वभावदृष्टिमें आना। मैं तो चैतन्य हू अर्थात् ज्ञानदर्शनरूप हू, चारित्रभूमि जो कि स्वय चेतती नही हे जानती देखती नही है उस चारित्रभूमिपर कर्मोदयकी सन्मुखतासे रागादिक होते हैं। निमित्त-नैमित्तिकप्रसगमें ऐसे होते हैं तो होओ, मैं ज्ञानदर्शनरूप हू जाननदेखन हारा हू सो मै जानन देखन ही कर सकता उन रागादिको नही करता। मै ज्ञान-स्वभाव हू, मेरा जानना ही कार्य है ऐसे वितर्कके अनन्तर स्वभावदृष्टिमें आजाता।

सब महिमा स्वभावदृष्टिकी है, स्वभावावलवनकी दृढता होने पर ज्ञानस्वभाव के कारण कुछ भी अन्य जाननेमें आवो आवो, परन्तु अभी तो हम सबको स्वभावदृष्टि ही अङ्गीकार्य है॥ हे स्वभावके चरमविकास!

जयवन्त होओ। हे स्वभावके चरमविकास के स्वरूप और उपाय बतानेवाली वाणी! जयवन्त होओ। हे स्वभावके चरमविकासके अविपरीत प्रयत्नमें रहनेवाले अचरमविकसित महात्मा साधु जनो! जयवन्त होओ। हे स्वभाव! जयवत प्रवर्तो।

ता० १६-४-५६

सर्व विकल्प पर को आश्रय बनाकर होते है। यहा पर आश्रय आरोपित है। जब यह ज्ञान निज आत्माका भी विकल्प करता है तब यह निज आत्मा भी ज्ञानके लिये पर है और वह विकल्प इस निज आत्मारूप पर को आश्रय बनाकर होता है अर्थात् आरोपता है। जब ज्ञान ही जाने ज्ञान ही जाना जावे अर्थात् ज्ञानमुखेन आत्मा अनुभवा जावे तब ज्ञानमय कर्ता ज्ञानमय कर्म व ज्ञानमय क्रिया होनेसे यह स्वय ज्ञानकेलिये स्व है। सर्व निज-पर रूप परको छोडकर अर्थात् उनमें उपयोग न देकर ज्ञानमय स्वमें स्थित होना।

जिसको लोग "मैं" कहता है वह मैं है तो अवश्य। यदि न होता तो बडी अच्छी बात थी क्योकि असत्को कोई दुख नहीं होता। उस सत् "मैं" को दुनिया कुछ कहती तो है परन्तु उस "मैं" का परिचय नहीं। वह "मैं" आत्मा शब्द से प्रसिद्ध है जब आत्माको निज आत्माको निज आत्माका परिचय नही है तब यह कहीं न कहीं उपयोग तो लगावेगा ही वह जहां लगेगा वह पर है।

परकी दृष्टिमें अपनेपर क्या बीतती है सो इसका सभी को अनुभव है। पुत्र को अपना माना और जब वह पुत्र अपनी इच्छाके विरुद्ध चले तो दुखका अनुभव करता है। अव्वल तो जब पुत्र अपनी इच्छानुकूल चलता था वहा भी आकुलित था, परन्तु मोहवश उस आकुलताको सहकर भी आकुलता मानता न था। इसी प्रकार सभी परविषयिनी दृष्टियो की बात है। ये सब आकुलतायें आत्मज्ञानके विना नष्ट नहीं हो सकतीं। जो सुख चाहता है उसको ही न जाना तो सुखके लिये आगे क्या करेगा।

ता० १२–४–५६ वाला ता० २०–४–५६

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम् (वसततिलकानामच्छदसि)

॥ शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावा., प्रापुर्लभन्त अचल सहज सुशर्म ।
एकस्वरूपममल परिणाममूल, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥१॥
"शुद्ध चिदस्मि" जपतो निजमूलमन्त्र, ॐमूर्ति मूर्तिरहित स्पृशत स्वतत्रम् ।
यत्र प्रयाति विलय विपदो विकल्पा, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्म तत्त्वम् ॥२॥
भिन्न समस्यपरत. परभावतश्च, पूर्ण सनातनमखण्डमनतमेकम् ।
निक्षेपमातनयसर्वविकल्पदूर, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥३॥
ज्योति पर स्वरमकर्तृ न भोक्तृ गुप्त, ज्ञानिस्ववेद्यमकल स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियत सततप्रकाश, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥४॥
अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्य, चित्पारिणामिकपरात्परजल्यमेयम् ।
यद्दृष्टिसश्रयणजामलवृत्तितान, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥५॥
यद्भ्रात्यखण्डमपि खण्डमनेकमश, भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम् ।
आनन्दशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्ड, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥६॥
शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमि, नित्य निरावरणमञ्जनमुक्तमीर ।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेज, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥७॥
ध्यायति योगकुशला निगदंति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदित समाधि ।
यद्दर्शनात्प्रवहति प्रभुमोक्षमार्ग, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥८॥
सहजपरमात्मतत्त्व स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्प य. ।
सहजानन्दसुवन्द्य स्वभावमनुपर्यय यायि ॥९॥

("ॐ शुद्ध चिदस्मि" इति निजमूलमन्त्र ९ वार अथवा बहुशोऽन्तर्जपेत्)

ता० २१–४–५६

साधु बनना अन्यबात है, साधुता आना अन्य बात है ॥ मानव होना अन्य बात है, मानवता आना अन्य बात है ॥ ज्ञान की चर्चा अन्यबात है, ज्ञानकी प्रतीति अन्यबात है ॥ जगतकी रुचिसे धर्म करना अन्य बात है, स्वकी रुचिसे धर्म करना अन्य बात है ॥ दूसरोको प्रसन्न रखनेकी परिणति

अन्य है, स्वको प्रसन्न रखने की परिणति अन्य है ।। परको दयाकरनेकी वृत्ति अन्य है ।। व्रतका नियम लेना अन्य वात है, व्रतका धारण अन्य वात है ।। वाह्य शुचि अन्य वात है अन्तर शुचि अन्य वात है ।। वाह्य त्याग अन्य वात है, अन्तरगसे त्याग अन्य वात है ।।

वस्तुत त्याग ज्ञानमात्र रह जाने को कहते हैं । परन्तु रागदशामें जिन पर वस्तुवोको आश्रय रूप बनाया था—जिन पर वस्तुवोके ममत्वपूर्वक परका सयोग हुआ था सो ममत्वके हट जाने पर परका वियोग होता है अथवा धार्मिक वातावरणका सयोग करना पडता है इस वाह्यपरिस्थिति का नाम वाह्य त्याग है ।

ता० २२–४–५६

अन्यसे उपेक्षित होकर किसी एक मजहबकी समाजसे ही सम्बन्ध रखना विचारोके सकुचित बनानेका वाह्यहेतु है । यद्यपि अन्य मजहबवालोसे सम्बन्ध रख कर अपने निश्चित पथ में सुधार या अन्यप्रकार की वात करनेकी आवश्यकता नहीं है तथापि सकुचितता आजाना प्राकृतिक है । अत कल्याणार्थी जनो का जनसम्पर्क रहे और धर्मपालन हो तो उसकी अपनी वह एक विशेषता है जो रुढिसे पृथक होकर अन्तरगसे यथार्थतामें आ जाता है ।

ता० २३–४–५६

जैन बन्धुवोकी भी अपेक्षा कुछ अजैन बन्धु आध्यात्मिक वात को बडे चावसे सुनते हैं, प्रसन्न होते हैं तो भी जन्मजात परबुद्धिरूप सस्कार मिटा लेना बडा कठिन हो रहा है । वस्तुस्वरूप जो यथार्थ शैलीसे दिगम्बर जैन महर्षियोने बताया है वह अकाट्य और सत्य है । द्रव्य अखड होता है, अखड का लक्षण है—चिन्ह है—एक द्रव्यमें समस्त एक परिणमन । इस तरह देखलो जानलो—अनतानत आत्मायें, अनतानत अणु, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असख्यात काल द्रव्य ये सब अनतानत द्रव्य हैं । समस्त पदार्थसार्थ सत् की अपेक्षा एक है । सत् की अपेक्षा एक होने पर भी वे सब पदार्थ चैतन्यकी दृष्टिसे २ भागोमें विभक्त हो जाते हैं—कुछ चेतन कुछ अचेतन है । जो तेतन है उनके नाम आत्मा जीव ब्रह आदि अनेक हैं । जो

अचेतन है उन में कुछ तो इन्द्रिय ग्राह्य हो सकनेवाले है और कुछ कभी इन्द्रिय ग्राह्य हो ही नहीं सकते ऐसे हैं। जो इन्द्रिय ग्राह्य हो सकते उन्हे मूर्त कहते है और जो इन्द्रिय गाह्य नही हो सकते उन्हे अमूर्त कहते है। अमूर्त अचेतन तो एक धर्मद्रव्य, एक अर्धमद्रव्य, एक आकाश द्रव्य व असख्यात काल द्रव्य है। मूर्त अचेतन अनतानत परमाणु है। चेतन अनत आत्मायें है, ये अमूर्त ही होते है। सभी द्रव्य स्वभावसे स्व स्व लक्षणको को लिए हुए है और परस्पर सभी सभीसे पृथक हैं और अपने आपमें स्वतत्र है। उनका परिणमन उनके ही स्वसे होता है। हा इतनी बात है कि जिनका स्वभावपरिणमन है उनका कालके अतिरिक्त अन्य कुछ निमित्त या वातावरण नही है और जिनका विभाव परिणमन हो रहा है वहा यथायोग्य विविध निमित्त व वातावरण का सयोग है, अन्यथा परिणमनकी विविधता न होती, तथापि परिणमता वह स्वय ही है, क्योकि जहा तक परिणमन मात्रका विचार है—स्वय परिणमते हुए को अन्यकी अपेक्षा क्या और न पपिणमते हुएको अन्य की अपेक्षा कर ही क्या सके।

ता० २४–४–५६

कुछ सक्षिप्त कीर्तन इस प्रकार हो सकते है।

अर्हन् सिद्ध अर्हन् सिद्ध, सिद्ध सिद्ध अर्हन् अर्हन्।
अर्हन् भगवान सिद्ध भगवान, सिद्ध सिद्ध अर्हन् अर्हन् ॥१॥

—o—

अर्हन् सिद्ध अर्हन् सिद्ध, अर्हन् भगवन् सिद्ध भगवन्।
अर्हन् सिद्ध अर्हन् सिद्ध, अर्हन् भगवन् सिद्ध भगवन् ॥२॥

—◇—

अर्हन् सिद्ध अर्हन् सिद्ध, शिवपति केवलज्ञानी भगवान्।
सूरे पाठक साधो साधो, रत्नत्रयमय पूज्य महात्मन् ॥३॥

—o—

अर्हन् सिद्ध अर्हन् सिद्ध, सिद्ध सिद्ध अर्हन् अर्हन।
सूरे देशक साधो जिनवर अर्हन् सिद्ध सिद्ध अर्हन् ॥४॥

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित शांति निधान।
भगवद्वाणी हित अमलान, प्रतिबोधक गुरु कृपानिधान ॥५॥

शिवेश जिनेश गणेश महेश, पूजत पाद नरेश सुरेश।
समयसार चैतन्य विजेश, ध्यावत पावें पद परमेश ॥६॥
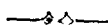
ता० २५-४-५६

ॐ ॐ ॐ अर्हन् ॐ ॐ ॐ। ॐ ॐ ॐ सिद्ध ॐ ॐ ॐ ॥
ॐ ॐ ॐ मुनीन्द्र ॐ ॐ ॐ। ॐ ॐ उपाध्याय ॐ ॐ ॐ ॥
ॐ ॐ ॐ मुनिवर ॐ ॐ ॐ। ॐ ॐ ॐ ब्रह्म ॐ ॐ ॐ ॥१

ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ। ॐ ॐ ॐ ॐ, ॐ ॐ ॐ ॥२

ॐ नम असिआउसा। ॐ अहं शुद्ध चिदस्मि ॥३

सच्चिदानद ॐ सहजानद निजानद परमानद सच्चिदानद। सच्चिदान्द ॐ सहजानन्द, नित्यानन्द परमानन्द, शाश्वतानन्द ॥४

शिवपति शकर ब्रह्म गणेश, जगन्नाथ वज्रांग महेश। विष्णु बुद्ध हरि हर सर्वेश, ईश्वर प्रभु विभु तुम्हीं जिनेश ॥५॥
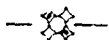
सम्मति वर्द्धमान अतिवीर, महावीर तीर्थंकर वीर। त्रिशलानदन हर भवभीर, हो सम्मति पहुँचू भवतीर ॥६॥

ता० २६-४-५६

"विष्णु क्षीरसागरमें शेषनागपर आराम करते हैं उनकी नाभिसे कमल निकला उसपर ब्रह्माजी हैं ब्रह्माजी सृष्टि रचते हैं" इन शब्दोंके

अलकारसे रचनाओ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध दर्शाया है–विष्णु नारायण सूर्य भगवान परदेवता रक्षक इन नामोमे सूर्य वाक्य है सो विष्णु सूर्य हुआ, क्षीर-सागर यह स्वच्छ आसमान हुआ। सूर्य स्वच्छ आसमानमें रहता है, सूर्यकी बीचसे कमलनाल निकला अर्थात् किरणनिकली उस कमलनाल किरणो पर कमलपुष्प–पृथ्वी विकसित हुई उस कमलपुष्प याने पृथ्वीके आधारसे ब्रह्म याने तेजोमय तत्त्व निकला। अब सोमदेवकी छायामें याने वर्षा होन पर इस तेजोमय ब्रह्मसे यह सब सृष्टि होती है याने वनस्पति पेड कीडे मकोडे उत्पन्न होते हं और तेजोमय तत्त्व से मनुष्य शरीर आदिकी सृष्टि होती है। उक्त वाक्य में इस वैज्ञानिक अशका पूरक अलकार है।

श्री १०५ क्षु० पूर्णसागरजीका प्रधानतया यह भाव रहता है कि जैन-समाजकी पूरी गणना हो और सबका ख्याल रखा जावे। कोई दुखी न हो सके। यह भाव प्रशस्त है। कोई दु:खी न हो यह बात कैसे साध्य हो यह बडी समस्या है। जन गणनाके सम्बन्धमें जहा आपका पदार्पण होता है वहीसे नोट होता रहता है इसमें सफलता नहीं हो सकती, अत हमारी कामना है कि उनकी इच्छाकी पूर्ति हो और उसका उपाय यह हे कि अबसे १॥ वर्ष बाद की एक तिथि नियत करली जावे और तब तक समस्त भारतमें इस सम्बन्धकी व्यवस्था बना ली जावे–एक एक प्रान्तमें एक एक प्रान्तप्रमुख हो प्रान्तप्रमुख अपने प्रान्त के एक एक जिलेमें एक एक जिलाप्रमुख बनालें–जिलाप्रमुख जिलेमें एक एक तहसील प्रमुख बनालें–व तहसील प्रमुख अपने तहसीलमें एक एक ग्राम प्रमुख बनालें बडे बडे शहरोमें प्रान्तप्रमुख–एक एक शहरप्रमुख बनालें व शहरोमें वह मुहल्लाप्रमुख बनालें। मुहल्लाप्रमुख व ग्रामप्रमुख एक ही तिथिमें जो पहिलेसे निश्चित की हो जैन गणना करलें और ऊपर ऊपर के प्रमुखोके पास भेजकर वह सब मुख्य केन्द्रमें आजावें। यह केन्द्र केन्द्रीय महासमिति दिल्ली बनाया जा सकता है। इस तरह श्री क्षुल्लक जी का आशय सफल हो सकता है।

ता० २७–४–५६

लगन की पहिचान—

जैसे किसी पुरुषको पुत्रसे प्रेम है तो पुत्रपर रोगादि कोईविपत्ति आने पर वह प्रेमी क्या करता है। उस पुत्रके लिये सारी सपत्ति भी खर्च कर देता है। इसी तरह जिसका निज आत्मासे प्रेम होता है तो आत्मज्ञान, आत्मधर्म, ज्ञानयज्ञ, धर्मिसेवा के लिये मनवचन कायदा सदुपयोग करता है व सारी विभूतिका दान व त्याग कर देता हे। जिसने अपने आप पर दया नहीं की वह सुखी शान्त हो ही नही सकेगा, न है। जिसकी बाह्यपर दृष्टि हे वह अन्तरगका आनन्द पा ही नही सकता, क्योकि बाह्य जड पर उसकी दृष्टि है, आनन्द इसमें है ही नही, सो वहासे मिलना ही क्या है। देखो ऐसी हालतमें भी आत्माके आनन्दस्वभावी होनेसे आनन्द गुणकी कोई न कोई दशा तो होगी ही। वह दशा आकुलताकी ही होती है। हष व विषाद दोनो आकुलता हैं।

ता० २८-४-५६

निज अविकार स्वभावसे अन्य सब कुछ पर है। जिन्होंने स्वभावदृष्टिसे उत्पन्न हुए सहजानदरूप आनन्दको प्राप्त नही किया, उनके अभी वस्तुत जीवनका प्रारम्भ ही नहीं हे। विपद्ग्रस्त जीवन, जीवन नहीं हे। जीवन वह है जो जीवत्वसे मिलादे। सम्यक्त्व के अनुभव विना जीवको जीवन कहा जावे और कहा जावे कि हम ४०-५०-६० वर्ष के हो गये तो यो तो उसे यो कहना चाहिये कि हम अनन्तकालके बूढे हो गये। जिस मोहशैली से घसिटते आये उसी शैलीसे घसिटते रहे तो वे घसीटे ससारभावोको घसीटनेके सिवाय और क्या पा सकेंगे।

चोर चोरो मे अपनी चोर्यकलाकी प्रशसा करते हे। कपटी कपटियोमें अपने कपट की, दगावाजीकी प्रशसा करते हे। मोही मोहियोमें अपनी व परकी मोहकलाकी व मोहके ठाठ बाटकी प्रशसा किया करते हे। उष्ट्राणा विवाहेषु गीत गायति गर्दभा। किन्तु होता क्या ह बाह्यचेष्टामें।

कुलक्रमागत व जनागत, यतगत मोहके चक्करमें ही पडे रहे तो कुछ जीवनमें आत्माके कल्याण के विषयमें क्रान्ति उत्पन्न न की तो हायरे हाय पता नहीं—निकट भविष्यमें ही कौनसा गहन अधकार आनेवाला हे।

भूलको भूल न सयझना ही भूल है। भूलको भूल समझ जानेपर भी

भूल है। तो वह गलती है। गलती ससारको लबा नही कर सकती, भूलही ससारका परिवर्द्धन करने वाली है मूलकी भूलमहती शूल है। जिसमे बीधा हुआ भवकूलमें हिलोरें लेकर भवकूलसे वियुक्त रहता है।

ता० २९-४-५६

जीवस्थान चर्चाके विषयोका आध्यात्मिक विवरण--

ज्ञान गुण की पर्यायें—ज्ञानमार्गणा ८, सज्ञिमार्गणा २, ज्ञानोपयोग, क्षायिकज्ञान, क्षायोपशमिक ज्ञान ३ अज्ञान ३, औदयिक अज्ञान।

दर्शनगुणकी पर्यायें--दर्शनमार्गणा ४, दर्शनोपयोग, क्षायिक दर्शन, क्षायोपशमिक दर्शन ३।

सुख (आनद) गुण की पर्यायें—साता असाता आत्मीय आनद।

वीर्य गुणकी पयायें—क्षायोपशमिक लब्धि ५।

श्रद्धागुणकी पर्यायें—सम्यक्त्वमार्गणा ८, भावऔपशसिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, मिथ्वात्व, गुणस्थान–मिथ्यात्व मिश्र अविरतसम्यक्त्व।

चारित्र गुणकी पयायें—वेदमार्गणा ४, कषायमार्गणा २६, सयम-मार्गणा ८, ध्यान १६ अविरति १२, कषाय २५, भाव-क्षायिक चारित्र, औप-शमिक चारित्र १६ क्षायोपशमिकचारित्र, सयमासयम, कषाय ४, लिंग ३, असयम, सासादन व देशविरत स १२ वें गुणस्थान तक।

क्रियावतीशक्तिकी पर्याय- क्रिया, अक्रिया।

प्रदेशवत्त्व शक्ति की पर्याये--स्वभाव्यजनपर्याय (सिद्ध, इन्द्रियरहित, कायरहित) विभावव्यजन पर्याय (गति, इन्द्रिय, काम)

योगशक्ति—योगमार्गणा २, लेश्यामार्गणा ७।

सर्वशक्तियोकी पर्याय--पारिणामिकभाव, भव्यत्वमार्गणा ३, असिद्ध भाव।

ता० ३०-४-५६

सहज परमात्मतत्त्वभक्तिका अर्थ--

जिस उत्तम तेजमें अभेदविकार होते हुये लीन होनेवाले आत्मावोने

अचल सहज उत्तम आनद प्राप्त किया व पा रहे है तथा जो एकस्वरूप, अमल एव परिणमनका मूल कारण है ऐसा शुद्ध चैतन्यमात्र सहज परमात्मतत्त्व मैं हू ॥१॥

॥ शुद्ध चिदस्मि इस आत्मीय मूलमत्रको जपतेहुएके तथा ॐ अथवा स्वीकारतारूप प्रतीति है मूर्ति जिसकी या मूर्ति रहित निजको आचरनेवालेके जहा विकल्परूप विपत्तिया विलयको प्राप्त होती है ऐसा शुद्ध चैतन्यमात्र सहज परमात्मतत्त्व मै हू ॥२॥

समस्त पर पदार्थ और औपाधिक भावोसे भिन्न, पूर्ण सनातन अर्थात् अनादिनिधन, अखण्ड,अनत, एक शुद्ध चैतन्यमात्र सहज परमात्मतत्त्व मै हू॥३॥

उत्कृष्ट ज्योति, स्वयराजमान, अकर्ता, अभोक्ता, गुप्त, ज्ञानियोके स्वसवेद्य, शरीररहित, निजरसके द्वारा ही प्राप्त है सत्त्व जिसको तथा चैतन्यमात्र ही है धाम जिसका, नियत, अनवरत अत प्रकाश स्वरूप शुद्ध चैतन्यमात्र सहज परमात्म तत्त्व (मैं) हू ॥४॥

अद्वैत, ब्रह्म, समय, ईश्वर, विष्णु शब्द से वाच्य, चित् पारिणामिक परात्पर की भावनासे ज्ञेय तथा, जिसकी दृष्टि और आलम्बनसे अमल पर्यायका सतान उत्पन्न होता है, ऐसा शुद्ध चैतन्यमात्र सहज परमात्मतत्त्व मै हू ॥५॥

जो अखण्ड होकर भी खण्डरूप अनेक व अशरूप प्रतिभात होता है, तथा जो निश्चयत सहज आनन्द शक्ति दर्शन ज्ञान चरित्रका पिण्ड है, ऐसा शुद्ध चैतन्यमात्र सहज परमात्मतत्त्व (मैं) हू ॥६॥

शुद्ध आन्तरिक उत्तम विलासके विकासकी भूमि स्वरूप नित्य निरावरण निरञ्जन निज लक्ष्मीका दाता, व पीलिया है समस्त निज पर्याय और गुणोको जिसने ऐसा तेज स्वरूप शुद्ध चैतन्यमात्र सहज परमात्मतत्त्व (मैं) हू ॥७॥

योग समाधिमें सिद्ध हस्तने महात्मा जिसको ध्याते हैं, और जिस को सकेत रूपमें कहते हैं, उत्तम रूपसे हुआ जिसका ध्यान समाधि कहा गया है, और जिसके दर्शनसे निज प्रभुको मोक्षमार्ग का प्रवाह होता हे, ऐसा शुद्ध

चैतन्यमात्र सहज परमात्वतत्त्व मैं हूं ॥८॥

जो निर्विकल्प रूपसे सहजपरमात्वतत्त्वको अपने में अनुभवता है वह सहज आनन्द द्वारा उत्तमतया बन्ध स्वभावके अनुरूप पर्याय को प्राप्त होता है।

"ॐ शुद्ध चिदस्मि" इस निज मूलमन्त्रको ६ वार अथवा बहुतवार अतन्तरङ्ग में जमना चाहिये।

ता० २-५-५६

जीवन थोडा रह गया है और उसका भी कुछ विश्वास नही अथवा आपको तो पता नही जल्दी ही अन्त होने को हो, भैया निर्विकल्प समाधिकी पात्रता वनालो।

विशेषवादियोका सिद्धात है—पदार्थ ६ प्रकारके है, द्रव्य, गुण कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। द्रव्य ९ प्रकारके हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा व मन। गुण २४ प्रकारके हैः—रूप, रस, गध, स्पर्श, सख्या, परिणाम, पृथकत्व, सयोग, वियोग, परत्व, अपरत्व वृद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, द्रव्यत्व, गुरुत्व, सस्कार, स्नेह, धर्म, अधर्म व शब्द। कर्म ५ प्रकारके है—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुचन, प्रसारण व गमन। सामान्य २ प्रकारसे हैं १—परसामान्य (सत्ता), अपर सामान्य (द्रव्यत्व आदि) ये सभी पदार्थ ४२ है, परस्पर अत्यन्त भिन्न है इनका परस्परमें समवाय सबध होता है, किन्तु समवाय सबधको सबध के लिये समवाय सबधकी आवश्यकता नहीं। परसामान्य याने सत्ताका समवाय केवल द्रव्य, गुण, कर्मके साथ है, सामान्य विशेष समवाय इन तीन पदार्थोमें सत्ताका समवाय नही होता, उनमें अस्तित्व जरूर होता, यह है विशेष वादियो का सिद्धात। वस्तुत. इन ४२ प्रकारोमें आकाश, काल व आत्मा ये ३ पदार्थ है और पृथ्वी आदि सब पुद्गल पदार्थ है इनसे अतिरिक्त जीव पुद्गल की गति और स्थिति के निर्माण भूत सूक्ष्म द्रव्य २ है जिनका रूढनाम धर्मद्रव्य है और अधर्म द्रव्य है, उक्त ४२ में आकाश काल आत्मा ये तीन को छोडकर बाकी ३९ शक्ति छ द्रव्यो की शक्तिया है या पर्याय (अवस्था) है या द्रव्यो के सयोग वियोग रूप

अवस्था है । वे कोई भी ३६ में से स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है । विषय बहुत बडा है द्रव्योकी विवेचनाकर, इसमें मुक्ति और अनुभव दोनो सफल होते जाते है ।

ता० ३–५–५६

आत्माका अहित हिंसा है जैसे किसी पुरुषने किसी प्राणीका प्राणघात किया तो वहा प्राणघात करनेकी प्रवृत्तिके योग्य सक्लेश परिणाम व अज्ञान परिणाम करना पडा यह तो हिसक की आत्माका अहित हुआ और आघात से प्राणघात होते समय अधिक सक्लेश प्राणीको हुआ सो अधिक सक्लेशसे मरनेवाले प्राणीको दु ख पूर्ण खोटी योनि मिलनेसे दोनो भवोमें अहित हुआ इस तरह हिंसक पुरुष खुदकी हिंसा करता है और परहिंसाका निमित्त बनाता है, यही मरने वालेके सक्लेशसे मरनेवाले की हिंसा हुई और हिंसकके सक्लेश और अज्ञान से हिंसक की हिंसा हुई ।

कीडे मकोडे भी आघात से मरने पर अधिक सक्लेश करते है, अधिक सक्लेश में मरण होने से उस भवसे भी अधिक खोटी गति उन्हे प्राप्त होती है । अत स्वपर दयाकरके हिंसासे दूर रहने में आत्माका उत्थान है ।

थोडे थोडे सताये जाने दिल दुखाये जाने में भी होने वाला सक्लेश कारण है ।

प्रत्येक द्रव्यकी परणति उसके अपने आपमें होती है, किसी दूसरेकी परणतिसे कोई दूसरा नही परिणमता किसी भी चेतन या अचेतन पर पदार्थ को न कुछ कर सका न कर रहा हूँ न कर सकूगा केवल मै व्यर्थ विकल्प ही कर रहा हूँ । यह विकल्प ही मेरा शत्रु बन कर मुझे चैन नहीं लेने देगा और आत्मीय अनुपम सहज आनद स्वभाव में रमने नहीं देगा । निश्चयकी बातव्यवहार में माने सो निश्चयाभासी व्यवहारकी बात निश्चय रूप में माने सो व्यवहाराभासी जैसे द्रव्यदृष्टिसे आत्मा शुद्ध अविकार है, उसे पर्याय रूपमें शुद्ध अविकार मानोतो वह निश्चयाभासी है और व्यवहार धर्म को निश्चय रूपमें धर्म माने तो वह व्यवहार भासी है निश्चय और व्यवहार का यथार्थ विज्ञान इन दोनो आभासियो को नहीं है । फिर भी ये आभासी जो गल्ती करते है उसको सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषअपनी भाषामें बताते है ।

ता० ४-५-५६

पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है, अनतशक्तिमय है, केवलसामान्य केवलविशेष केवलगुण केवलपर्याय कुछ वस्तु नही, अतएव कोई सामान्य विशेष गुण पर्याय-किसी को नही जानता, सभी कोई द्रव्यको जाना करता है, हा कोई सामान्यमुखेन द्रव्यको जानता है, कोई विशेषमुखेन द्रव्यको जानता है, कोई स्वभावमुखेन तो कोई गुणमुखेन व कोई पर्यायमुखेन द्रव्य को जानता है, रूपको कोई नही जानता कोई जानता है, तो रूपमूल स्कध को जानता है। क्रोधको कोई नही जानता, क्रोधमुख न आत्मा को कोई जानता है। गुण या पर्याय की प्रमुखता से जानना होने के कारण किन्हीं को यह भ्रम हो जाता है, कि मै गुण को जान रहा हू या पदार्थ को जान रहा हू। गुण पर्याय जानने में आ तो जाते किन्तु द्रव्य बिना केवल गुण या पर्याय जानने में नही आया करता, अनेक ज्ञेयाकार में जो होता है वह पदार्थ होता है, वस्तुत पदार्थ तो उसी पदार्थ में है, परन्तु जैसा ग्रहण हुआ वैसा बनानेमें उपचारसे कहना होता है।

ब्रह्मचर्य और स्वाध्याय दोनो महान् उत्कृष्ट तप है, आज यदि शरीर का सहनन उत्तम नहीं मिला, उपवास आदि विविध तपो की क्षमता नही है तो क्या बिगडा। ब्रह्मचर्य और स्वाध्यायकी उत्कृष्टता करना चाहिये ब्रह्मचर्य की उत्कृष्ट साधनामें रसना इन्द्रिय के विषयभूत रसस्वाद का विकल्प नही बढता है, तथा स्वाध्याय के उत्कृष्ट मनन में रसस्वादके विकल्प पीडित नहीं करते है, फल स्वरूप अभक्ष्य पदार्थो के भक्षणकी प्रकृति ही नही रहती, तब शुद्ध भोजन का प्रसग उपस्थित हो जाता है ब्रह्मचर्य व स्वाध्याय के प्रयत्न करते हुये जीवको जिसमें जीव हिसा ज्ञान हो ऐसे भोजन की प्रीति नहीं रखता, इस प्रकार शुद्ध भोजन भी हो जाता है। उपसंहार यह रहा कि ब्रह्मचर्य स्वाध्याय व शुद्ध भोजन इन तीन बातो में रहकर मनुष्य अपने जीवनको आत्मोद्धारका हेतु बना कर सफल करे।

पाचो इन्द्रियो में पद पद पर चंचलता का हेतु यह रसनेन्द्रिय है। भोजन एक या दो बार करना, अशुद्ध भोजन न करना, किसी ब्रह्मचर्य बाद

के, विरुद्ध वस्तुका स्पर्श न करना आदि बातो पर, मुमुक्षुका अधिक ध्यान रहता हे, रहो यह अच्छी बात हे, किन्तु भक्षुन्द्रिय का पहरा अधिक देना हे, इस बातको नहीं भूलना चाहिये। यदि कोई चलने, उठने बैठने, मलमूत्र क्षेपण, स्नान भोजन स्वाध्याय देव दर्शन कदाचित् विशिष्ट महापुरषोसे कर्ता करनेमें ही चक्षुको खोले शेष समय चक्षुको वन्द रखेतो यह प्रवृत्ति बुरी नहीं है, प्रत्युत लाभकर है।

ता० ६-५-५६

जो आत्मा ससार शरीर भोगोसे विरक्त रहते हं, किसीका अहित नहीं सोचते हित मित प्रिय वचन का व्यवहार रखते हैं, इस वृत्तान्त के कारण लोग प्रशसा करते हैं किन्तु इसमें वीरता अथवा प्रशसाकी बात ही क्या, सम्यग्ज्ञान होनेपर ऐसा होताही हे। जैसे मोही जीव ज्ञानमय वृत्त रखनेमें असमर्थ है वैसे ही ज्ञानी जीव मोह व कुत्सित प्रवृत्ति करनेमें असमर्थ है, क्या करें दोनो विवश है। देखो रे देखो भैया सम्यग्दृष्टि गृहस्थकी हालत, लडकेको गोद में लेकर खिला रहा है, तो उसका चित्ततो यह है कि वन में निर्ग्रन्थ रहकर आत्मानन्दमें रमना, इसलिये बच्चेके खिलाने का सुख जो किरकिरा होगया और अभी वन में है नहीं, जनाकुल स्थलमें हे, सो वनका भी आनन्द नही हे, दोनो सुखोसे हाथ धोया। तब क्या इससे भला तो वज्र मिथ्यादृष्टि होगा कि कम से कम बच्चोके खिलाने आदिका पूरा मजा तो ले रहा ! तो क्या सचमुच गृहस्थ सम्यग्दृष्टि दुखी है ? नही, नहीं, वह तो भेदविज्ञानके अपूर्व बलसे विकल्पको तोड तोड निर्विकल्प समाधिको स्पर्श कर कर अतुल अन्त आनन्द लेता जा रहा है। इसका मम सम्यग्दृष्टि जानता है। वज्र मिथ्यादृष्टि तो आकुलतामें सुखकी बुद्धिकरके अतीव असावधान है। वहा तो भलाईकी नकली भी बात नही हे।

ता० ७-५-५६

बाहर मूर्ति आदिमें भगवानको मत खोजो। परमौदारिकशरीरस्थ परमात्मा भी मिल जावे तो भी उस परमौदिकशरीरमें भगवान मत खोजो। अशरीर सिद्ध परमात्माके स्वरूपमें भी तो बाह्यदृष्टि द्वारा परमात्मा नही

मिलेगा। अपने चैतन्यप्रभुका स्पर्श हो, कारणपरमात्मा की दृष्टि होजाय तो मूर्तिमें जिसकी स्थापनाकी है उसका व सकल निकल परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जावेगा। यदि परकी दृष्टि रही तो भगवानका जानना कठिन ही होगा। मूर्ति अथवा सकल निकल परमात्माका अवलम्बन स्वयकी प्रभुता पानेके लिये है। बाहर खोजनेसे भगवान मिलेगा ही नही। साक्षात् अरहत भी समक्ष हो तो जो समक्ष है वह तो बाहर देखनेसे जान लिया जावेगा परन्तु भगवान नही जाना जा सकेगा। वस्तुत तो पर चाक्षुष भी जाननेमें नही आता। जाननेमें तो वर्तमान निज ज्ञेयाकार ही आता। आत्मन् ! तुम जान सकते हो तो अपने को ही। देख सकते हो तो अपनेको ही। प्रतीत कर सकते हो तो अपने को ही। वर्तित कर सकते हो तो अपने को ही। सुखी कर सकते हो तो अपने को ही ॥

ता० ८-७-५६

परमे हित की प्रतीति होने पर परकी उन्मुखतारूप उपयोग दुख विराजता है और निजमें हितकी प्रतीति होनेपर निजस्वरूपमें आत्माकी उन्मुखता है निजमें आनन्दका परिणमन होता है।

लोग कहते कुछ है, करते कुछ है, सोचते कुछ है इसपर खेद न करना। ऐसी अस्थिरता छद्मस्थ अवस्थामें सर्वत्र होती है। वह उनका परिणमन है तुम्हारा क्या छुडा लिया। सर्व द्रव्य स्वतत्र उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है।

ज्ञानावरणकी उत्कृष्ट स्थितिके समयोकी सख्या कृतयुग्मराशि है—अर्थात् इतने समय है कि उनमें ४ का भाग देनेसे अन्तमें नीचे कुछ शेष नही रहते।

ज्ञानावरणकी जघन्यस्थितिके समयोकी सख्या कलि ओजराशि है—अर्थात् इतनेसमय है कि ४ भाग देने पर अन्तमें ३ शष रहते हैं।

धवला १२-१८० पेजपर समाधान साख्यमतसे. दिया है और पर पर्यायका अभेद कराया है क्या कोई पाठ छूट गया ?

जयधवला १-१७ पेज—अवधिज्ञानसे पहिलेके ज्ञान सीमित है। मन.

पर्याय भी अल्प विषय होनेसे अवधिज्ञानसे पहिले है परन्तु संयमकी विशेषता की प्रसिद्धिके लिये चौथे नंबर पर मन पर्यय रख दिया है।

ता० १० मई सन् १९५६

सहज परमात्मतत्त्व भक्ति

हरिगीता छन्द

पाते सहज सुख आतमा, ऐसे निरत निज धाम में
हो ज्ञान परणति एकवत् अविचल निज भाव में
सबकर्म तनमलसे रहित, इक स्रोत सब पर्यय गमा
वहशुद्धप्रभु चैतन्य हूँ कारण सहज परमात्मा ॥१॥
शुद्ध चिदस्मि है मूर्ति जिसकी ॐ या स्वीकारता।
निजमंत्र जपकर मूर्तिविन, निज मंत्र में जो वर्तता॥
विपदा विकल्पो का विलय, पाता जहाँ वह आतमा।
वह शुद्ध प्रभु चैतन्य हूँ, कारण सहज परमातमा ॥२॥
सब अन्य द्रव्य विभावसे, गत स्वगुण रत्नकरण्ड जो।
पूरण सनातन एक निरवधि, खण्डविन चित्पिण्ड जो॥
सब कल्पनाओसे जुदा, निक्षेपनय नहि नहि प्रमा।
वह शुद्ध प्रभु चैतन्य हूँ, कारण सहज परमातमा ॥६॥
कर्ता न भोक्ता ज्योति उत्तम, स्वयं राजित गुप्त जो।
है ज्ञानि जन अनुभाव्यनिष्कल, स्वरस निर्भर सत्त्व जो।
चिन्मात्र जिसका धाम नित्य, प्रकाशमय नियतातमा॥
वह शुद्धप्रभु चैतन्य हूँ, कारण सहज परमातमा ॥४॥
अद्वैत ईश्वर समय विष्णु, व ब्रह्म अभिधावाच्यजो।
चित् पारिणामिक अरु परात्पर, भावनासे मेय जो॥
जिसके सुदर्शन आश्रयोसे, अमल पर्याय वह थमा
वहशुद्धप्रभु चैतन्य हूँ, कारण सहज परमातमा ॥५॥
भूतार्थ नय-विपरीत आशय, में कभी प्रतिभासता।
गुणखण्डनाना अशमय, यद्यपि अखण्ड स्वभावत॥

आनन्द दर्शन ज्ञानवीर्य, चरित्रमय सहजातमा ॥
वह शुद्ध प्रभु चैतन्य हूँ, कारण सहज परमात्मा ॥६॥
जो शुद्ध अन्तस्तत्त्वके, सुविलासकी निजभूमि है।
निज नित्य लक्ष्मीप्रद, निरंजन, निरावरण सुधाम है ॥
निर्भेद मग्न समस्तगुण, पर्यय जहाँ अचलातमा।
वह शुद्ध प्रभु चैतन्य हूँ कारण सहज परमातमा ॥७॥
योगी कुशल ध्यातेतथा, संकेत में कहते जिसे।
होता समाधि सुभाव उत्तम, रीति ध्याने से जिसे ॥
प्रभु मुक्तिमग जिसके, से हि पाता आतमा।
वह शुद्ध प्रभु चैतन्य हूँ, कारण सहज परमातमा ॥८॥

शिखरणी छन्दमें

भुला भेदो को जो सहज परमात्मत्व भजले
स्वयं स्वके द्वारा अनुभव स्वयं में जब करें
अदेही निर्दोषी, सम शिव अवस्था प्रगट हो
निजी आनन्दो से, परम, सहजानन्दमय हो।
(ॐ शुद्ध चिदस्मि, इसकी ९ वार या वार वार भावनाकरें)

ता० १२-५-५६

अनादि निधन एक स्वरूप सदामुक्त परम पारिणामिक कारण स्वरूप सार रूप निज परमात्माका, सम्यक्श्रद्धान ज्ञान व इसी स्वरूप में उपयोगकी स्थिरता रूप पर भक्ति निश्चय भक्ति है। उपयोग में, अरहंत सिद्ध स्वरूप का, सोल्लास, होना व्यवहार भक्ति। दंडवत्, नयन, वचन, अष्टद्रव्य उपदेश श्रवण करना आदि जडकी क्रिया है। जीव का उद्धार परम भक्ति में है। इसमें स्थिरता न रहनेपर व्यवहार भक्ति होती है। क्योंकि जिसकी प्रतीति सहजसिद्ध चित्स्वभाव पर दृढ है, आगे उसके उपयोगकी स्थिरता रहे तो उस चित्स्वभावका शुद्ध व्यवहारिक रूप जिनके प्रगट हुआ है, वहा भक्ति पहुँचना चाहिये, किन्तु जो इससे भी असमर्थ है, अरहंत सिद्ध विशेष भाव पर भी २, ४ सेकिंड उपयोगनही जमा सकते ण, भक्तिद्योतक बाह्य वातावरण याने

उडक्रियाके अनुरूप विकल्पोमें रहे ताकि विरुद्ध अशुभ विकल्पोके अभावमें इन भक्तिद्योतक विकल्पोके पश्चात व्यवहारभक्तिसे आनेका सरल अवकाश प्राप्त हो सके। इस अवकाशकी पूर्ति भी ज्ञान ही करेगा।

ता० १३–५–५६

स्वभावदृष्टि ही हमारी रक्षिका माता है। स्वभावदृष्टि ही हमारा उत्थान है, मोक्षमार्ग है। स्वभाव दृष्टि नहीं होगी तो यह सुनिश्चित है कि परदृष्टि होगी, सो पर पदार्थ कोई भी हो शांतिका कारण नही हो सकता और वह किसी बातका निमित्त भी बने तो अकुलताका ही निमित्त हो सकता है, अनुकुलताका निमित्त नही हो सकता। इतना तो अन्तर है कि कोई तीव्र आकुलताका निमित्त है तो कोई मंद आकुलताका निमित्त है। जो मंद आकुलताका निमित्त है उसे तीव्र आकुलताकी अपेक्षा आकुलता कम होनेसे शांति का–संतोषका कोई निमित्त मानले तो यह उसकी व्यक्तिगत मान्यता है। वस्तुत आकुलता तो आकुलता ही हे चाहे वह मन्द हो या तीव्र।

ता० १४–५–५६

अनाकुलता स्वाभाविकदशा है, अत वह औपाधिक नही होती। वह परकी ओरसे निराश्रयज है किन्तु अपनी ओरसे स्वाश्रयज है। मंद आकुलता का उत्तम आश्रय भगवद्भक्ति हे सो भगवद्भक्तिके आश्रयमें भी देखलो–आकुलता ही है। भगवानका उपदेश भी है कि परमकल्याणके लिये हमारा भी राग याने हमारी भी भक्ति छोडो। किन्तु भगवद्भक्ति छोडना पुत्रभक्ति व जडभक्तिकेलिये नहीं करना, फिर अन्य किसीकी भक्ति या प्रीति न हो इस तरह भक्ति छोडना। एक परमसमरसभाव की पूर्ण चित्स्वभावमें उपयोगकी स्थिरता करो, यही परमभक्ति है।

परमभक्तिका विषय अभेद हे, और व्यवहारभक्तिका विषय ? वह भेदरूप रहता है।

हमारा निजी स्वाध्यायका सिलसिला करीब २–२॥ माहसे भ्रमणके कारण व अपनी शिथिलतासे कम होगया जिससे धर्मकी लगन भी पूर्ववत् प्रगतिशील नहीं रही। इससे मेरेको यह निर्णीत हुआ है कि दैनिक स्वाध्याय

जितना करतेहो उसमें कमी न होने पावे, इतना ध्यान जरूर रखना चाहिये।

जगतमें करना क्या है ? किसी पर पदार्थ से कुछ भी हित नही होने का। यहा जीव असहाय है। जब तक किसीको लाभ होता रहता है जिसके निमित्तसे, उसे लोग पूछ लेते हैं लेकिन उस पूछने के कालमें भी आत्माका हित नही है। एक निजस्वभाव दृष्टि के अतिरिक्त कुछ भी मेरा हितकर नहीं है। यह बात पूरी पक्की है, फिरपरकी ओर का झुकाव अज्ञान नहीं तो और क्या है ?

ता १५-५-५६

कषायका वेग अल्प अन्तर्मुहूर्तको होता है। उस समयकी चिकित्सा सद्भावनारूप कर लो, अन्यथा उस वेग में कषायकी त्रियोगसे वृत्ति हो जाने पर उसका सक्लेश बहुत काल तक रहेगा।

समस्त कषायोका विजय व समस्त इन्द्रियविषयोका विजय एक यही है कि निज अनादिनिधन चैतन्यस्वरूप सहज स्वभावका अनुभव करें।

जलवत्पात्रम् — सयोगसम्वन्धावच्छिन्नजलत्वावच्छिन्नजलनिष्ठाधेयता-निरुपितसयोगसम्वन्धावच्छिन्नपात्रनिष्ठाधिकरणशालित्वम् इति निष्कर्ष।

जीववच्छरीरम् — सयोगसम्वन्धावच्छिन्नदशप्राणयुक्ततारूपजीवत्वाव-च्छिन्न जीवनिष्ठाधेयतानिरूपितसयोगसम्बन्धावच्छिन्न देहनिष्ठाधिकरणशालित्वम् इति निष्कर्ष।

ससारभाव आत्माका शत्रु है, वह अपनेमें घर किये है। उसकी तो चिन्ता नही करता और पर पदार्थ जिसके कि परिणमनके तुम स्वामी नही जिसकी वृत्तिको कुछ भी आप कर सकते नही उसकी इतनी चिन्ता लगा रखी है।

स्वभावदृष्टि आत्माकी रक्षिका अम्बा है, इस अम्बाकी आराधना करो। यह अम्बा केवल एक मुख वाली है। आत्माने इसका बल प्रकट करना होगा कि परका कही कुछ होता हो होओ, अपने स्वभावदर्शनसे विचलित न होओ। स्वभावदर्शन ही आत्माकी सम्पत्ति है।

ता० १६–५–५६

करणानुयोगमें गणित की ज्ञप्ति आवश्यक है। प्रारम्भिक गणित—

$२ + ३ = ५$

$३ — २ = १$

$२ — ३ = — १$

$२ \times २ = ४ = २^{२}$

$२ \times २ \times २ = ८ = २^{३}$

$(४)^{\frac{१}{२}} = २$

$(२)^{२} = ४$

$(२)^{३} \times (२)^{४} = (२)^{७} = १२८ = ८ \times १६$

$(२)^{क} \times (२)^{ख} = २^{क + ख}$

$(२)^{४} — (२)^{३} = (२)^{४ — ३} = (२)^{१} = २$

$(२)^{क} — (२)^{ख} = २^{क — ख}$

$अ + ब = अ + ब$

$अ — ब = अ — ब$

$अ — ब = अ — ब$

$२ — ३ = \frac{२}{३}$, $अ — ब = \frac{अ}{ब}$

$$\frac{४}{५} + \frac{६}{७} = \frac{२८ + ३०}{३५} = \frac{५८}{३५}$$

$$\frac{अ}{ब} + \frac{स}{द} = \frac{अ \times द + ब \times स}{ब \times द}$$

$अ^{३} \times अ^{५} = अ^{८}$

$अ^{३} \times ब^{५} = अ^{३}ब^{५}$

$अ \times अ \times अ = अ^{३}$

$अ^{३} \times र^{५} \times अ^{४} \times र^{४} = अ^{७}\, र^{६}$

$\frac{अ^{३}}{र^{४}} + \frac{ब^{३}}{र^{२}} = \frac{अ^{३}र^{२} + ब^{२}र^{४}}{र^{६}}$

$२ \times ५ \times ५ \times ५ = २५०$

$अ \times ब \times अ = अ^{२}ब$

$अ \times ब \times स = अ\ ब\ स$

$१० \times ३१५ = ३१५०$

$५ \times २ \times ५ \times ६३ = ३१५०$

$अ \times अ \times अ \times अ \times ब \times ब \times ब \times द \times द = {}^{४}अ_{३}{}^{ब}{}_{२}{}^{द}$

ता० १७-५-५६

$(२ \times ३) + (२ \times २ \times २) = ६ + ८ = १४$

$२[३ + (२ \times २)] = २ \times २ + ३ \times २ = १४$

$२[३ + ४] = ३ + ४ \times २ = १४$

$(अ \times अ) + (अ \times अ \times अ) = अ^{२} + अ^{३}$

$४० + २५ = (५ \times ८) + (५ \times ५) = ५[८ + ५] = ६५$

$अ + अ\ ब = (अ \times १) + (अ \times ब) = अ[१ + ब]$

$५० + ६० = ११० = (२ \times ५ \times ५) + (२ \times २ \times ३ \times ५) =$
$२ \times ५[५ + (२ \times ३)] = १०[५ + ६]$

$अ^{२}ब + ब^{२}अ = (अ \times अ \times ब) + (ब \times ब \times अ) = अ\ ब[अ + ब]$

$अ^{२}ब\ स + ब^{२}स\ अ = (अ \times अ \times ब \times स) + (ब \times ब \times स \times अ) =$
$अ\ ब\ स\ (अ + ब)$

$अ^{३}ब + अ^{२}ब + अ\ ब = (\underline{अ} \times अ \times अ \times \underline{ब}) + (\underline{अ} \times अ \times \underline{ब}) +$
$(\underline{अ} \times \underline{ब}) = अ\ ब(अ \times अ) + (अ) = (१)अ\ ब\left[\frac{२}{अ} + अ + १\right]$

$अ^{४}ब + अ^{४}ब^{४}अ + स^{३}अ = अ[अ^{३}ब + ब^{४}स^{३}]$

$अ^{८}ब^{३} + अ^{४}ब^{४} = अ^{४}ब^{३}[अ^{४} + ब]$

ता० १८-५-५६

आत्मन् ! अपनेको तो काम बस एक ही रहा है—अपने चित्स्वभाव को देख उसीमें उपयोगी रहना। और कौन सा काम रहना बाकी है बताओ ---राग द्वेष आदि तो तुम हो नही उसका तो करना ही क्या है वह तो विपत्ति व विकार है—बाह्य धन वैभवसे होता क्या है तुम्हारा उसको कर भी क्या सकते---उससे कुछ आत्मलाभ नहीं, रही उदरपूर्तिकी बात— सो आत्मोलब्धि में बढने वाले को उसकी परवाह भी नहीं —आत्मोपलब्धिमें बढने वालेको यदि राग शेष हो तो वहा पुण्यबध की विशेषता है जिसके उदयकालमें लौकिक साधनोकी प्रचुरता बिना इच्छाके होती है।

आत्मन् करनेको कुछ काम है ही नहीं सिर्फ यही रह गया कि निज-स्वरूप को देखो देखते रहो फिर उपयोग भी न करना पडेगा—शुद्ध निर्मल होवोगे।

कोई प्रसन्न होगा तो हमें क्या लाभ ! कोई अप्रसन्न होगा तो हमें क्या क्षति सन्मानविशेष हो तो उससे आत्माको क्या लाभ कहीं अपमान हो तो उससे आत्मा को क्या हानि। आत्माका लाभ तो सर्वत्र उतना ही है जितना कि वह साम्यभावमें रह कर अपनाकुल स्वभावका अनुभव करे।

वर्तमान भाव तुम नहीं हो, क्या चिन्ता करते हो वर्तमान स्थितिमें विश्वास मत करो अभी ही नष्ट होनेवाली है। सब भूल जावो तब एक अनुभवमें रहेगा। सुननमें अचरज है अनुभवमें आवाज नही है।

ता० १९-५-५६

इन्द्रियोके विषयभूत पदार्थ से आत्मा भिन्न है। विषयों का आत्मा स्वामी नहीं है। इन्द्रियोसे विषयोका ग्रहण नहीं होता। विषयोकी आत्मा जानता नही है। फिर विषयोकी ओर उपयोगका रमना मूर्खता नहीं तो और क्या है ?

आत्मा जैसाभी खुदमें ज्ञेयाकार हो उस रूप परिणमता अर्थात् आत्मा आत्माको जानता।

रूप रस गध स्पर्श शब्द इन इन्द्रिया विषयोको नहीं जानता।

इन्द्रिया छद्मस्थ अवस्थामें मति विज्ञान उत्पत्तिमें नमित्तिभूत है

न्द्रियोसे विषयोका ग्रहण नही होता। विषय तो विषयमे ही रहते और रिणमते है।

विषयोका आत्मा स्वामी नही है क्यो कि विषय परद्रव्य है आत्मा पर-व्य है। परद्रव्य परद्रव्यका स्वामी नही है।

सर्व द्रव्य अपने अपने ही स्वरूपसे सार है अत विषयोसे आत्मा अत्यन्त पृथक् है।

वस्तुस्थिति ऐसी स्वतन्त्र है–फिर भी जिन्हे आत्मस्वरूपका जब तक परिचय नही है तब तक विषयोका निज आत्माका यह प्रकट भेद कल्पना तक में भी नहीं आता।

अज्ञानतिमिरान्धाना ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्रीगुरवे नम ।

ता० २०–५–५६

$\text{अ ब स}+\text{ब स}+\text{स अ}=\text{स}\ [(\text{अ}\times\text{ब})+(\text{ब})+(\text{अ})$ ।

का करिके पुनि भागकर फिर गुण लेहु सुजान। ता पीछे धन ऋण करो भिन्न रीति यह जान —

$३-४-२=३-\frac{४}{२}=३-२=१$

$\text{अ}-\text{ब}^{॥}-\text{ब}=\text{अ}-\frac{\text{ब}^{॥}}{\text{ब}}=\text{अ}\frac{\text{ब}\times\text{ब}}{\text{ब}}=\text{अ}-\text{ब}$ ।

$४+६\times ८=४८+४=५२$। इसका यह अर्थ $४+६=१०\times ८=८०$ गलत है।

$\text{अ}+\text{ब}^{=}\times\text{स}=\text{ब}^{=}\text{स}+\text{अ}$। इसका यह अर्थ $\text{अ}+\text{ब}^{२}\text{स}$ गलत है।

$८\times ५+४-३=४०+४-३=४१$

$\text{अ}^{२}\times\text{ब}+\text{ब}-\text{स}=\text{अ}^{॥}\text{ब}+\text{ब}-\text{स}=\text{ब}\ [\text{अ}^{२}+१]+\text{स}$

$६\div २-४\times ६$ का $२=६\times २\times ४=४८,\ ३-४८=-४५$

$\text{अ}^{५}-\text{अ}^{२}-\text{अ}^{२}\times\text{अ}^{३}$ का $\text{अ}=\frac{\text{अ}^{५}}{\text{अ}^{२}}-\text{अ}^{२}\times\text{अ}^{४}+\text{अ}^{३}-\text{अ}^{६}$

$=\text{अ}^{३}\ [१-\text{अ}^{३}]$

ता० २१-५-५६

अनादिपरम्परासे चला आया हुआ विकार सस्कार प्राणीको सत्पथसे बार बार विचलित कर देता किन्तु यदि आत्मा अपनी शक्ति पर दृष्टिपात करे और पक्का सकल्प आत्महितका करले तो कोई बाह्य साधन ऐसा नहीं जो उसे सत्पथसे विचलित कर सके।

आत्मा स्वयसिद्ध एक सत् है वह दूसरेकी परिणतिसे न परिणमता तथा न अपनी परिणतिसे दूसरे को परिणमाता अत किसी द्रव्यकी अरक्षा है नही सब सुरक्षित हैं, परिणाम अरक्ष्य है, वह तो विनाशीक ही है। परि-परिणामका मेरे से रच सबद्ध नही उसके विनाशका अनुभवन मेरे में हो नही सकता। निजपरिणाम का भी विनाश अवश्यभावी है उसका यद्यपि क्षण-मात्रका सबध है तथापि मै ध्रुव चित्स्वरूप हू उसरूप नही।

मै ज्ञानमात्र अजर अमर अकल अखल अचल अछल अटल अदल अमल निजस्वभाव मात्र हू।

मै-अ-इ-उ-ऋ-क-ख-च-ध-म हू।

ता० २२-५-५६

नानामत

जैन—दिगम्बर, श्वेताम्बर स्थानकवासी

बौद्ध—वैभाषिक, सौत्रातिक, माध्यमिक, योगाचार

साख्य—ईश्वरवादी, निरीश्वरवादी

भट्ट—शब्दभावनावादी, अर्थभावनावादी

प्रभाकर—कार्यवादी, प्रेरणावादी, उभयवादी, अनुभयवादी

वेदान्ती—अध्यात्मवादी, ब्रह्मवादी, देवतावादी

मीमासक—क्रियाकाण्डी, बलिवादी, नियोगवादी, भावनावादी

नैयायिक—सृष्टिवादी, तर्कवादी

वैशेषिक—ईश्वरवादी, निरीश्वरवादी

चार्वाक—नाना प्रकार के हैं।

आज जैनसिद्धात को छोडकर अवशिष्ट अन्यसिद्धात लोगोके व्यवहार

–आचारमें सकररूपसे होगये है और आज यह नही कहा जा सकता कि ये अमुक है क्योकि नाना सिद्धान्तोको कही कुछ कभी कुछ इस तरह मान लिया है। जैसे कभी सत्त्व रजो तमोगुण को सिद्धात बनाकर साख्य बन गये है तो वे ही कभी सृष्टिकर्ता ईश्वर मानकर नैयायिक बन गये और वे ही कभी पूजा यज्ञ विधिसे मीमासक बन जाते और वे ही कभी प्रवाह देखकर बौद्ध बन जाते आदि इस प्रकार तो यह चार्वाक का रूप बन जाता। अथवा यो कह सकते है कि जैसे प्रथकके पाच सस्थानोमें विभिन्नता याने किसी शरीरमें कोई अवयव न्योग्रोधपरिमडलका है व कोई स्वाति या अन्य का है आदि तो वह हुककसस्काम होजाता है, इसी प्रकार कुछ सिद्धात किसी तत्त्वका कुछ सिद्धात किसी का माने एक मौलिक सिद्धातपर न टिक सके तो वह चार्वाक ही है–एक विशुद्ध चार्वाक वह है कि आत्मतत्त्वकी बात कुछ न माने सब भौतिक-विलास देखे।

ता० २३–५–५६

ज्ञानावरण कर्मकी उत्कृष्ट स्थितिके समय कृतयुग्मराशिवाले है। ज्ञानावरण कर्म की जघन्य स्थितिके समय कलिओजराशिवाले है।

यद्यपि आत्मोको ही सब जानते है, आत्मामें प्रत्यय करते है आत्मा की ही परिणति करते है तथापि अखडचैतन्यस्वभावमयतासे स्व को जाने माने आचरण किये बिना सत्य शाति प्राप्य नही हो सकती।

श्री मद्भगवत्कादत्ददेवेनात्मनो यत्स्वरूप "णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो। एव भवति सुद्ध णाओ जो सोउ सो चेव" इति गाथाया प्रोक्त तथा सर्वगुणपर्यायादिभेदकल्पनानिरपेक्ष ज्ञायकभाव मय स्व जानीहि, प्रत्येहि, अनुचर च। अन्यथा साध्यस्यात्मन सिद्धिर्न भविष्यति।

ता० २४–५–५६

ननु कोऽयमात्माचार कथमाचरितव्यश्च स्यादिति चेदुच्यते—आचारो हि श्रद्धानुसारी भवतीति प्रथममभेदचैतन्यस्वभावोऽयमात्मा श्रद्धातव्यो तथा रागादिसद्भावासद्भाव सकलविकल्परहितस्वाश्रयतया श्रद्धातस्तथैव प्रज्ञया सगृह्याभीक्षा तत्रैवाभेदलक्ष्यदार्ढ्यमात्माचार ।

$(\text{४अ}+\text{५व})\ (\text{४अ}+\text{५व})$

$=\text{४अ}(\text{४अ}+\text{५व})+\text{५व}(\text{४अ}+\text{५व})$

$=\text{१६अ}^{\text{२}}+\text{२०अ व}+\text{२०अ व}+\text{२५व}^{\text{२}}$

$=(\text{४अ}+\text{५व})\ (\text{४अ}+\text{५व})$

$=(\text{४अ})^{\text{२}}+\text{२}(\text{४अ})\ (\text{५व})+(\text{५व})^{\text{२}}$

$=\text{१६अ}^{\text{२}}+\text{२}(\text{२०अ व})+\text{२५व}^{\text{२}}$

$=\text{१६अ}^{\text{२}}+\text{४०अ व}+\text{२५व}^{\text{२}}$

$(\text{३क}+\text{७ख})\ (\text{३क}+\text{७ख})=\text{९क}^{\text{२}}+\text{४२क ख}+\text{४९ख}^{\text{२}}$

$=(\text{३क})^{\text{२}}+\text{२}(\text{३क})\ (\text{७ख})+(\text{७ख})^{\text{२}}$

$=\text{९क}^{\text{२}}+\text{२}(\text{२१क ख})+\text{४९ख}^{\text{२}}$

ता० २६–५–५६

वर्गित समवर्गित—

$[(\text{१६})^{\text{१६}}]=\overline{\text{१६}}|^{\text{१}}$

इसमें १६ बार १-१ रख कर ऊपर १६-१६ रख कर सोलहो को परस्पर गुणित करे जो लब्ध हो वह $\overline{\text{१६}}|^{\text{१}}$ है।

$\{(\text{१६})^{\text{१६}}\}^{\{(\text{१६})^{\text{१६}}\}}=\overline{\text{१६}}|^{\text{२}}$

इसमें उक्त $\overline{\text{१६}}|^{\text{१}}$ बार १–१ रखकर ऊपर $\overline{\text{१६}}|^{\text{१}}$ – $\overline{\text{१६}}|^{\text{१}}$ रख कर परस्पर गुणा करें जो लब्ध हो वह $\overline{\text{१६}}|^{\text{२}}$ है।

$\overline{\text{२}}|^{\text{१}}=\text{२}\times\text{२}=\text{४}=\text{१}^{\text{२}\times\text{२}}_{\ \text{१}}=\text{४}$

$\overline{\text{२}}|^{\text{२}}=\text{४}\times\text{४}\times\text{४}\times\text{४}=\text{२५६}$

$\overline{\text{२}}|^{\text{३}}=[(\text{२५६})^{\text{२५६}}]=\overline{\text{२५६}}|^{\text{१}}$

$\overline{\text{२}}|^{\text{४}}=\overline{\text{२५६}}|^{\text{२}}=(\text{२५६})^{\text{२५६}}\ (\text{२५६})^{\text{२५६}}$

$\overline{\text{२}}|^{\text{५}}=\overline{\text{२५६}}|^{\text{३}}$

सम्यग्वृत्ताश्रय सम्यग्ज्ञानाश्रय उपाश्रित ।
सहजचिद्विलासात्माऽनन्तवीर्यस्वभामय ॥८॥ ५३

नित्यानन्दैकरूपात्मा, स्वसामान्यविशेषण ।
असच्छुभाशुभोऽपुण्य-पापश्च परम शिव ॥६॥ ५८

अदीक्षितो दुराधर्ष , सिद्धद्रव्य. शिवेशिता ।
निर्गुण सगुण श्रेष्ठ , पुष्टो निष्ठ सदोदय ॥१०॥ ६६

सर्वादिर्विश्वभूनस्थ , प्रभूष्णुर्विश्वतोमुख ।
सुश्रुक् सहजसिद्धश्च, सत्यात्मा महसाम्पति ॥११॥ ७५

स्वेष्टो गारिष्ठो बहिष्ठ , सिद्धात सिद्धशासन ।
ज्ञानेश्वरोऽव्ययो दिव्योऽनुत्पन्न पूत शासन ॥१२॥ ८५

निस्तरङ्गो ध्रुवो नित्यो, निर्विकल्प परात्पर. ।
चित्स्वरूपश्चिदानन्दो, निरशश्च निरन्तर ॥१३॥ ६४

गुणपर्यायसाम्यश्च, सिद्धाश्लिष्टो मुनिप्रिय ।
पुरुषोऽत्यन्तशुद्धश्च, समीक्ष्यो महताप्रिय ॥१४॥ १०१

इति सहजादिशतम् ॥१॥

ॐ ह्री सहजादिशतनामवाच्याय सहजसिद्धपरमदेवाय नम

चैतन्य सहजज्ञान, चिच्चमत्कारमात्रकम् ।
अन्त प्रकाशमानचिज्ज्योतीरूप चिदात्मकम् ॥१५॥ १०८

विश्वतश्चक्षुरद्वन्द्व , सर्वश्रेष्ठश्च शाश्वत ।
भव्यबन्धुरचिन्त्यश्च, सर्वज्येष्ठोऽचलस्थिति ॥१६॥ ११६

विश्वज्योतिरमेयश्चा-नुपमोऽसीमसर्वक ।
प्रभूष्णुरच्युतोऽमोघो, हित साध्यो विभावसु ॥१७॥ १२६

अमतात्मा विनेयात्म-बन्धुर्मेशोऽचलद्युति ।
पुराणश्चाचलज्योति-र्निष्कामो हि निरामय ॥१८॥ १३४

कलिघ्न परम धाम, कर्मारिर्वागगोचर ।
स्वाश्रितो विशदज्योति-र्योगिगम्यो ह्यकिञ्चन ॥१६॥ २१४

उदारोऽध्यात्मगम्यश्चा–गम्यात्मा नैकरूपक ।
चैतन्यचिह्न एकात्मा, लोकधातैकरूपक ॥२०॥
चिन्तामणिर्महादेवोऽरिञ्जयोऽभीष्टदोऽमित ।
क्षेमङ्करो निराहार, सन् पुण्यापुण्ययारग ॥२१॥
यदभावसुषुप्तश्चा–चेष्टो यद्भावजागृत ।
अनाकुलस्वसवेद्यो, मिथ्याभीताभमयप्रद ॥२२॥
प्रमेयत्वाद्यचिद्रूपो, ज्ञानदर्शनचेतन ।
पूर्वापरौघबोधात्माऽमित्रो ज्ञानसुधानिधि ॥२३॥
नानात्मशविततादात्म्य, ॐ तत्सच्चिदभावभित् ।
पक्षान्तोऽमृतचन्द्रज्यो–तिरभेषश्च भावभित् ॥२४॥

ता० ३०–५–५६

समीकरण —

४अ=८   अ=२

६अ=१६   अ=$\frac{१६}{६}$=$\frac{८}{३}$

४क^{२}=२५   क^{२}=$\frac{२५}{४}$ क=±$\frac{५}{४}$

५अ २५=०   ५अ=२५   अ=५

८अ+४०=०   ८अ=–४०   अ=–५

—<●>—

श्रेकिसकलन—

२+४+६+८+१०+१२+१४+१६=

=२

२+२

२+२+२

२+२+२+२

२+२+२+२+२

२+२+२+२+२+२

२+२+२+२+२+२+२

२+२+२+२+२+२+२+२

प्रथमपद व अन्तिमपदके जोडके आधेमें गच्छका गुणा करे

२+१६=१८÷२=९×८=७२

ता० ३१-५-५६

मनुष्य जन्म पाकर श्रद्धान ज्ञान चारित्र उज्ज्वल बनावो पहिले श्रद्धानसे गिर गये उसका सोच मत करो। पहिले चारित्र से गिर गये इसका सोच मत करो। अब तक श्रद्धानसे च्युत रहा इसका सोच मत करो। अब तक चारित्र से च्युत रहा इसका सोच मत करो। सम्यग्ज्ञानको ठीक रहो सब काम ठी हो जायगा। आत्मा प्रतिसमय वर्तमान पर्याय मात्र है। उसमें पहिली पर्यायोका अभाव है तब गलतिया जो की उसका अस्तित्व अब कहा है अब तो यदि गलती कर रहे हो उसका अस्तित्व अब कहा है। यदि वर्तमान स्वभावदृष्टिका परिणाम है तो वर्तमान गलती भी नही है। पहिले निर्मल परिणाम थे किन्तु अब गलत परिणाम है तो पहिले का अब फल नही है वर्तमान गलत परिणामका गलत फल है।

सोच मत करो महान् अपराध हुए अब कैसे उद्धार होगा। ज्ञान की बडी महिमा है, ज्ञानको ठीक बनाओ। गत अपराधका तो अस्तित्व नही, वर्तमान अपराध रहने न दो फिर क्या सोच को रहा।

आत्मन्! कुछ करनेको नही पडा। बस एक निजस्वभाव को पहिचानो और उससे अभीक्ष्ण उपयोगी बने रहो।

ॐ शाति, ॐ शुद्ध चिदस्मि, ॐ शाति

ता० १-६-५६

ॐ नमः सन्मतिनाथाय। — संसार के प्राणी चाहते हैं कि हमें अत्युत्तम सुख प्राप्त है। और इसके लिये ही प्रयत्न करते है परन्तु सफल नही होपाते। इसका कारण यह है—अत्युत्तम सुख के स्वरूप का अपरिज्ञान और उसके उपाय का अपरिज्ञान। भगवान महावीर स्वामी ने सत्यसुख और उसके उपायका उपदेश दिया और इससे पहिले वे स्वय सुखी, सर्वज्ञ हो गये। इस विशेषताके कारण उनकी प्रामाणिकता पूर्ण जानकर जन जन उनका कृतज्ञ है।

सन्मतिनाथ ने दिव्यवाणी में प्रकट किया—कि हे आत्मार्थियो ! आत्म-कल्याण के लिये सबसे पहिले अपना और परका यथार्थ ज्ञान करो। यथार्थ ज्ञान का साधन स्याद्वाद है। इसका भी कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है। अनेकधर्म वाली वस्तु का यथार्थ ज्ञान अपेक्षावाद विना नहीं कराया जा सकता है। जैसे लोक में—अमुक पुरुष पुत्रकी अपेक्षा पिता है, पिताकी अपेक्षा पुत्र है मामाकी अपेक्षा भानजा है आदि अपेक्षावादसे उस पुरुषका पूरा ज्ञान कराया जाता है। इसी तरह आत्मा आदि पदार्थोंका अपेक्षावादसे पूरा ज्ञान कराया जाता है। प्रत्येक पदार्थ अनेकान्तात्मक है। यथा—आत्मा द्रव्यदृष्टिसे नित्य है और पर्याये वदलती रहती हैं सो इस अपेक्षासे अनित्य है। यह सब निरूपण स्याद्वादसे ही हो सकता है। आत्माकी अनतशक्तियोंका परिज्ञान करो जिससे फिर आत्माके ध्रुव एक चैतन्यस्वभावकी प्रतीति हो जावे। इस प्रतीतिके होने पर हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह इन पाच पापोसे निवृत्ति होती है। पश्चात् स्वभावमें लीन होनेपर शरीर, कर्मकी भी उपाधिया भी समाप्त हो जाती हैं। उस समय यह परमात्मा होकर अनत सुखी हो जाता है।

ता० २-६-५६

सुख वही है जहा आकुलता नहीं होती है और जहा राग द्वेष मोह नही है वहा आकुलता नहीं होती। अत भव्य आत्मावो ! स्याद्वादके उपायसे अनेकान्तत्मक निज आत्मा को पहिचान कर अपरिग्रह व्रतके द्वारा पूर्ण अहिंसा का पालन करो। यह श्री महावीर भगवान्के दिव्योपदेशका सार है। जो आत्मा इस उपदेशके अनुसार चलेगा वह परमसुखी होगा।

भगवान महावीर प्रभुका उपदेश सभी जीवोंके उपकारार्थ था। जिन प्रभुके अहिंसा तत्त्वको उपयुक्त कर आज स्वराज्य मिला, यदि उनके उपदिष्ट धार्मिक सभी ज्ञान विज्ञानोका पालन करें तो निश्चय ही स्व का राज्य अर्थात् आत्माका राज्य प्राप्त होगा। इसके लिये सबसे पहिले जगतकी विभूतियोंको असार जानकर ज्ञानार्जन में लगनेकी महती आवश्यकता है।

वीर—सन्मतिनाथ की भक्तिसे सबको सन्मति प्राप्त हो यही मेरी

भावना है।

ता० ३-६-५६

चैतन्यैकरस साक्षा-द्धर्मो भुवनभूषण ।
अखण्डितप्रतापश्च, समाधिव्यक्त उत्पद ॥२५॥ १८५
वीतरागचिदानन्दैक-स्वभाव सदाद्युति ।
परापोहकचैतन्य, सहक्रमगवृत्तिग ॥२६॥ १८६
मध्याद्यन्तविभागान्त-श्चैतन्यैकसुचिह्नत. ।
निजचैतन्यलोकस्थस्थ, स्वयगु'ता सुरक्षित ॥२७॥ १९४
आकस्मिकापदातीत, शुद्धचिच्चिन्मय. स्वज ।
शुद्धज्ञानघनो रागा-द्यनिमित्त स्वचेतक ॥२८॥ २०१

इति चैतन्यादिशतम् ॥२॥

ॐ ह्री चैतन्यादिशतनामवाच्याय सहजसिद्धपरमदेवाय नमः

गुणपुञ्जोऽव्ययीभाव, शिवशङ्करदृष्टिद ।
स्वचतुष्टयमात्र श्री-गर्मो धाता परो वृष ॥२९॥ २०९
अविनाशी स्वत सिद्धो, विभवतो ज्ञायको विभु
एकत्वनिश्चितोऽखण्डोऽनादिमुक्त' सम शिव ॥३०॥ २१९
असख्यातप्रदेशश्चा-नन्तगोऽनन्तचिल्लघु ।
पार्श्वोऽधिभूरधीशानो, न गुरुर्न लघुर्गुरु ॥३१॥ २२९
एकस्वरूप एकाकी एकी सकत्वनिश्चित ।
अशिष्योऽशासक. शास्ता शूरदेव स्वभू श्रित ॥३२॥ २३९
उपयोगलक्षणोऽमूर्त-स्वभावश्चिन्महोनिधि ।
नवतत्त्वगतोऽद्वैतो, नवतत्त्वसमावृत ॥३३॥ २४५
रूपापरिणतो द्रव्ये-न्द्रियारूपित उद्धर' ।
गन्धापरिणतो द्रव्ये-न्द्रियाघ्रात उमापति ॥३४॥
द्रव्येन्द्रियाश्रुतोऽशब्द-पर्यायो मुक्तिकारणम् ।
शब्दापरिणत स्पर्श-परावृत्तस्त्रयीमथ ॥३५॥ २५७

रसापरिणतो द्रव्ये–न्द्रियास्पृष्ट सुधावह ।
द्रव्येन्द्रियारस श्रीयुग्भावेन्द्रियनिराश्रित ॥३६॥ २६३

कर्मनिर्जीर्णतामूल, निर्ममो गुणवाहक ।
स्वव्याप्यानेकपर्यायो, मुक्तामुक्तस्वरूपक ॥३७॥ २६८

ता० ४–६–५६

वेदाङ्गी सर्वतोभद्रो, वेदान्त सुप्रभो मनु ।
ज्ञानिविख्यातगोत्र स्व-रूपगुप्तश्च कामद ॥३८॥ २७६

विज्ञानघननिर्मग्नो गुणसम्पन्न उत्तम ।
ज्ञानमात्रस्वभावश्च नानाशक्तिसमाहित ॥३९॥ २८१

नवतत्त्वसमाच्छन्नोऽभिवन्द्यो मूलमङ्गलम् ।
सुदृक्कलणाणसर्वस्वोऽध्यात्मगम्य स्वधर्मराट् ॥४०॥ २८८

निगम सिद्धसाम्यश्चा–खिलोपाधिविवर्जित ।
परमाह्लादसतस्त्रोतश्चैकवच्छुद्धपर्यय ॥४१॥ २९३

ज्ञानमात्रात्मवस्तुत्वो, नीरन्ध्र सुफलो गुरु ।
नि सहायो निराम्भो, गुणराशिनिरङकुश ॥४२॥ ३०१

इति गुणपुञ्जादिशतम् ॥३॥

ॐ ह्रीं गुणपुञ्जादिशतनामवाच्याय सहजसिद्धपरमदेवाय नम.

अनन्त परमानन्दो, नि सङ्कल्पो निरास्रव ।
अहेतुको वृषोऽकर्ता, भूतसृष्टिस्वकारण ॥४३॥ ३०८

अभेदोऽविचल शुद्धो, निरूपोऽप्रतिघातक ।
अबद्धो नियतोऽस्पृष्टोऽसयुक्तोऽतीतकल्मष ॥४४॥ ३१८

अभोक्ता वृषभ शम्भु–र्गतसर्वनयोऽमर ।
अशत्रु साम्यसत्स्वास्थ्यो, निजकल्याणमन्दिरम् ॥४५॥ ३२६

अयुग्विधिनिषेधात्मा प्रकाशस्थ उपेक्षक ।
अनन्तानन्तरूपश्चाऽ–बोधाव्यक्त उदाधृत ॥४६॥ ३३३

अस्तभेदविकल्पोऽना–तङ्को भूतहितोऽफल ।
अस्खलितैकवस्तुत्वो, भावापायोऽव्ययोऽकुल ॥४७॥ ३४१

अनन्याधिकृतो ज्ञानप्र-माण शैवकारणम् ।
अनष्टज्ञानप्राणश्च, स्वतस्त्राणमय स्वभू ॥४८॥ ३४७
अहेतुज्ञानरूपैकोऽ-हेतुज्ञपयेकसत्क्रिय' ।
अखण्ड नित्यसामान्य ससारच्छेदकारणम् ॥४९॥ ३५१

ता० ६-६-५६

सभी जीव सुख चाहते है परन्तु सस्कृत धारणा ऐसी रहती है कि अपने पूवसस्कार के विरुद्ध अन्य बात पर विश्वास अथवा उसकी जानकारी के लिये तैयारी नहीं करना चाहिते ।

धार्मिक मामलेमें कुछ पढे लिखोका उपर्युक्त हाल विशेषतया होता । आजकल के अनेक ऐसे समझदार जो धार्मिक मामलेमें रुढि पद्धतिसे जानकारी नही रखते अथवा कुछ भी धार्मिक जानकारी नहीं किन्तु प्रतिभा समझनेकी है वे पक्षको छोडकर सत्य समझनेके लिये तैयार है किन्तु सत्यधर्मी ऐसे उदासीन है कि उनकी ओरसे प्रचारका विशेष प्रोग्राम नही होता । कुछ तथ्य यह भी है कि सत्य समझने पर बाह्य प्रक्रियाओसे उपेक्षा हो जाती है । पुन-रपि-सत्य समझ होजाने पर भी राग रहता हे तो उसे विषय कषाय में न लगाकर परको शातिके पथ को बनाने के उपकार में लग जावो ।

ता० ७-६-५६

हे परमात्मन् तेरी भक्ति मुझे अनेक सकटो से बचा सकती । सकट हें विषय कषाय । भक्ति विषयकष्तय की विपत्तियोसे वचा ही देती है । अहो यह भक्ति व्यवहार मेरा शरण है । यह जानकर भी कि परम तत्त्व कारण-समयसार का अवलम्बन सकल क्लेशोसे दूर कर सकता, ससार के बन्धन से पृथक् होनेके लिये इसी परम निर्विकल्प तत्त्वका शरण होना ही होगा । तथापि इस परिस्थिति में हम हैं कि मुक्त प्रभुकी भक्ति बिन प्रेक्टीकल कृति गिर रही है । प्रभुभक्ति स्वभावदृष्टिका द्वेषी भाव नही है । प्रभुस्वरूप को चितार चितार उत्साह होता हे वीतरागतामें आनेको और मन करता है अभेदवृत्ति में जमनेको ।

हे अर्हन् हे सिद्ध हे निर्मल हृदयमें विराजो क्योकि मुझे अन्य पर

चिन्ता सुहाती नही है तुम्हारे विराजने पर परचिन्ता राक्षसी छूक नहीं सकता ।

मेरा किसी परसे हित नहीं सो लो यह तो मैं सर्व परसे मुख मोड बैठ ही जाता हू ।

अपने आप जो हो सो हो मैं तो कुछ भी विचार नही करना चाहता ।

ता० ८-६-५६

आत्मन् कहा जाने में तुम्हारा लाभ है ? तुम्हारा तुम्ही में रहने से लाभ है । जानेके विशेष वितर्क न करो ।

आत्मन् किससे बोलनेमें तुम्हारा लाभ है तुम्हारा तुम्हीमें मौन होनेसे लाभ है । न बन सके यह, तो खुद के लिये हितनिकटकारी अन्तर्जल्प कर लो बोलनेके विशेष वितर्क न करो ।

आत्मन् किसे सोचने में तुम्हारा लाभ है ! तुम्हारा तुम्ही में निर्विकल्प रहनेमें लाभ है । सोचने की कसरत न करो । न बन सके यह तो सोचो आत्मस्वभाव । अन्य कुछ सोचनेका फन्द न लगावो ।

आत्मन् किसे देखने में तुम्हारा लाभ है ? तुम्हारा तुम्हीं में तुम्हारे दर्शनसे लाभ है सयमसे अर्थ देख लो, अधिक से अधिक स्वाध्यायके लिये देख लो, बाकी तो अपने पर दया करो ।

आत्मन् क्या खाने में तुम्हारा लाभ हे तुम्हारा तुम्हारे ही स्व के अनुभवके भोग में तुम्हारा लाभ है । अब गले पड गया शरीर, क्षुधाका उपसर्ग होगया तो खालो शुद्ध भोजन किन्तु खानेके विशेष वितर्क न करो ।

ता० ९-६-५६

देखो भैया ! तुम्हारी दया के लिये आख पर पलक है और मुह पर औठ है । पलको से आख बन्द करो औठो से मुह बन्द करो-देखना बन्द करो बोलना बन्द करो । देखना बन्द करके भी तुम्हे अन्दर अनुपम प्रभु देखनेको मिलेगा । बोलना बद करके तुम्हे अन्दर अनुपम प्रभु से भेंट हो सकेगी ।

एक बार तो सब विकल्प छोडकर अभेद ज्ञानस्वभाव स्व के अनुभव द्वारा अनाकुल सहज आनन्दको देखले । यदि तुझे वहा कुछ क्लेश मिले तो

फिर सदाके लिये उससे मुख मोड लेना और ससार बधन में डटे रहता फिर कुछ न कहूगा। तू ने बहुत बार भी तो अन्य सब जगह उपयोग दे देकर परीक्षा कर डाली उन अनन्त वारो के सामने यह एक बार तुझे भार हो जायगा ?।

इन्द्र सारिखी सपदा चक्रवर्ति के भोग। काक वीट सम गिनत है सम्यग्दृष्टी लोग। (अज्ञात)

तुझे कोई जाने नहीं उसमें और अधिक सहूलियत है यदि अन्तर्दृष्टि पाली।

क्या कभी एक म्यान में २ तलवारें रह सकती है ?

क्या कभी एक उपयोगमें प्रभु और शैतान दोनो रह सकते है ?

ता० १०-६-५६

जब चित्त थम जाता है अच्छे विचारोमें आगे नही बढता तब आकुलता होती है उसे मेटनेके लिये चित्त चाहता है–कुछ लिखने बैठो, लिखने भी बैठे तो क्या लिखा जाय। न भी कुछ लिखने का विषय हो तो भी आश्रय कुछ समय बाद मिल ही जावेगा।

शरीर को आराम में मत रखो नपस्या में लगा दो। यद्यपि तपस्या आत्माकी होती है तथापि इच्छानिरोध के कालमें जो विषयप्रवृत्ति रुक गई उससे जो कामकी अनेक स्थितिया आती है उन्हे भी उपचारसे तपस्या कहते है। आत्मीय तपस्यामें रहकर जो मन विश्राम को पाता है उससे काम भी आराम में रह जाता है।

समस्त परके विकल्प छोड निर्विकल्प आत्मस्वभावमें उपयोग कर फिर सहज निर्विकल्प हो जावेगा।

अभेद स्वभाव निज की दृष्टि तपस्या है।

अभेद चैतन्यस्वभाव की दृष्टि तपस्या है।

ज्ञानदर्शन स्वभाव की दृष्टि तपस्या है।

ज्ञानदर्शनस्वभाव की विचार तपस्या है।

निरीह परमात्मा की भक्ति तपस्या है।

होने वाली इच्छाको ज्ञानबलसे रोक देना तपस्या है अगर ऊपरकी तपस्यामें न रह सको तो नीचे वाली तपस्याओ में चलो। कहीं ऐसा मत कर बैठना कि चौबे गये छवे होनेको वे दुवे ही रह गये।

ता० ११-६-५६

क्या कभी दूसरोके मर जाने पर जैसा वह शरीर शीघ्र लेजाकर गृहस्थो द्वारा जला दिया जाता है-अपने सम्बन्ध में भी विचार किया ? क्या यह विश्वास है कि इस शरीरसे मेरे जुदे होने पर यह शरीर दूसरोके द्वारा पाला पोषा जावेगा या जलाया, गाढा या बरबाद न किया जावेगा। अथवा क्या यह विश्वास हे कि इस शरीर से मै जुदा न होऊगा।

जब ये दोनो बातें होनेकी नहीं तब किस भरोसे प्रमादमें पडा। विषयकषायकी वृत्तिरूप प्रमादको छोड। इस शरीर से बिलकुल मोह तज। क्या करना पडता है क्या करना पडेगा। सच जान यदि अन्तर्दृष्टि रखो तो वस्तुत आराम मिलेगा।

तेरा वश ज्ञाता द्रष्टा रहने तक है किसी वस्तुका कुछ परिणमन कर देना भी तुम्हारे वशका नही, राग द्वेष कर लेना भी तुम्हारे वशका नहीं जिस कार्यके तुम्ही तो उपादान हो और तुम ही निमित्त हो वह कार्य तुम्हारे वश का है। कारन द्रव्य परिणमन सामान्यका सामान्य द्रव्योका सामान्य हेतु है अत उसकी विवक्षा प्राय सर्वत्र गौण रहती है।

राग न होने देने में तुम क्या वश चलावोगे, राग का कर्मोदय के साथ निमित्तनैमित्तक सम्बन्ध है। कर्मोदय हे तो रागादि होगा ही। हो इस समय भी तुम ज्ञानवलको सभालो तो रागादिके ज्ञातामात्र रहकर आकुलता से पिण्ड छुटा लोगे। यद्यपि रागादि आत्माके चरित्र गुण की परिणति है तथापि ज्ञान रागका साथ न दे तो रागको मिटना ही पडता है उसके सतान नही होगी।

ता० १२-६-५६

बाह्य जड समागम मिट जाना है मित्र बन्धु आदि का समागम भी मिट जाना है, नामवरी भी मिट जानी हे। करतूतें भी मिट जानी है, यह विज्ञानबाजी भी मिट जाती है, शरीर तो बुरा ही हाल पाकर मिटना हे।

फिर रह क्या जाना है विचारा कभी।

देखो रह जाना है किसी योग्यता वाला उपादान जिसको कारण पाकर योग्यताके अनुकूल परिणमनका सर्जन होगा। सो अब करना क्या है–योग्यता उत्तम बनावो। योग्यता उत्तम कैसे बनानावनानेके यत्नसे नही बनेगी–आप तो अपने ध्रुव स्वभावको पहिचान कर–जो कि सहज अविकारी है–उसकी दृष्टि किये रहो। योग्यता उत्तम होवेगी भविष्यमें सुगति होगी आत्मदृष्टि रहेगी। आत्मस्वभावावलबनके प्रसादसे ससारबधनोसे मुक्त हो जावेंगे स्वतन्त्र, सहजानन्द हो जावोगे।

मनुष्य कमजोरी का घर है माना किन्तु तुम मनुष्य तो नही हो, आत्मा हो–आत्माकी शक्ति विचार कर सामर्थ्य सभालो। मै कमजोर हु ऐसा सोच कर शिथिलतासे नयन मिलावोगे तो सभलना कठिन है–आत्मा शक्तिमान है ऐसा मानोगे तो कहा चित्र शिथिलता भी हुई तो भी सभल जावोगे।

ता० १३–६–५६

आत्मोद्धारके लिये पुरुषार्थ वर्तमान का करता है–पूर्व कृत अपराध तो व्यय अवस्थाको प्राप्त होगये उनका तो लेश भी वर्तमान में नहीं है। वर्तमानमें तो वर्तमान अपराध है और वह अपराध भी क्या है ? आत्मदृष्टि से च्युत रहना जो कि परदृष्टिरूप या विकल्पोपयोगरूप है। यह अपराध परम स्वभाव निज पारिणामिक भायकी दृष्टि से दूर होजाता है। जिसमें उपयोग में चैतन्य प्रभु है उस उपयोग में अपराध शैतान नही ठहर सकता है।

अहो देखो आत्मवीर्यकी वर्तमान सभालकी कितनी बडी महिमा है कि शुद्ध प्रभु परमात्माके दर्शन हो जाते। इतना ही नही कुछ समय तक प्रभुके दर्शन बने रहे तो सर्वक्लेशबधन सदाके लिये दूर हो जाते।

आत्मामें अपराधरूप कमजोरी होनेपर प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान, प्रायश्चित, अलोचना होना चाहियें सो एक यह स्वभावालबन ही निश्चयत, अमोघ प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित, आलोचना है। इस उत्तमार्थ में विराजे रहो अपराध भी न होंगे तुम्हारा परम अभीष्ट तुम्हारे में सहज मिल जावेगा।

निरपराध परमात्मन् ! हृदय में विराजे तबतक विकल्परूप अपराध रहे।

ता० १४–६–५६

जगतमें द्रव्य अनतानत है–अनतानत जीव, उनसे भी अनन्तगुणे अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य, असख्यात-काल द्रव्य। ये प्रत्येक द्रव्य सामान्यविशेषात्मक है। सामान्य २ प्रकारका है अभेदसामान्य, त्रैकालिक सामान्य। विशेष २ प्रकारका है भेद विशेष, अध्रुव विशेष। पदार्थकी शक्ति आदि गुण भेद भी न करके अभेद रूप से देखनेपर अभेदसामान्य देखा जाता है। पदार्थमें गुणोका भेद करके अनेक गुणरूप देखनेपर भेदरूप विशेष देखा जाता है। एक ही पदार्थकी सब अवस्थाओ में याने तीनो कालोमें एक स्वभावरूप रहनेवाले तत्त्वको त्रैकालिकसामान्य कहते हैं। एक पदार्थ मे प्रतिक्षण होनेवाली अवस्थावोको अध्रुवविशेष कहते है।

त्रैकालिक सामान्यका दूसरा नाम ऊर्द्धतासामान्य है। अध्रुव विशेष का दूसरा नाम ऊर्द्धताविशेष है।

अभेदसामान्य २ प्रकार का है–१–एक अभेद, २–जाति अभेद। अभेद सामान्य का दूसरा नाम तिर्यक्सामान्य है।

भेदविशेष २ प्रकारका है १–गुणभेदविशेष २ पृथक्सत्ताक विशेष। भेदविशेषका दूसरा नाम तिर्यग्विशेष है।

ता० १५–६–५६

सामान्यविशेषका विवरण इस प्रकार हो गया–

१ त्रैकालिकसामान्य (ऊर्द्धतासामान्य), २ अध्रुव विशेष (उर्द्धता-विशेष), ३ एक अभेदसामान्य ४ जाति अभेदसामान्य, ५ गुणभेदविशेष, ६ पृथक्सत्ताक विशेष। इनका दिग्दर्शन इस प्रकार है—१ अनाद्यनत आत्मा सामान्य, त्रैकालिक सामान्य है। २ एक ही आत्मा के नारक मनुष्य आदि पर्याय क्रोधी मानी आदि पर्याय अध्रुव विशेष है। ३ सर्वगुणोका अभेद एक पिण्ड आत्मा एक अभेद सामान्य है। ४ सब आत्मावोकी जातिकी मुख्यता से आत्मा कहना जाति अभेद सामान्य है। ५ आत्मामें ज्ञानगुण दर्शनगुण सुख

गुण आदि भेद करना गुणभेदविशेष है। ६ अनेक आत्माओका नारकी तिर्यञ्च मनुष्य आदि पर्यायोसे उन उन रूप कहना—पृथक्सत्ताक विशेष है।

वस्तुमें सामान्यस्वभाव स्वत सिद्ध है और विशेष स्वभाव भी स्वतः सिद्ध है।

वस्तुका सामान्य ध्रुव है वस्तुका विशेष उत्पाद व्ययलक्षित है। वस्तु का विशेष उत्पादव्ययवाला पर्याय है और वस्तुका सामान्य अश होने से पर्याय है तब उत्पाद व्ययध्रौव्ययुक्त सत् यह पर्यायदृष्टिसे लक्षण हुआ।

ता० १६–६–५६

परवस्तुविषयक मोह छोडा क्यो नहीं जाता इस बातपर ज्ञानियोको आश्चर्य होता और अज्ञानियो के सिर पर बीतती है विपदा।

मिर्चके शौकीन जैसे आसू बहाते जाते और मिर्च खाते ऐसे ही अज्ञान भावके शौकीन आकुलता सहते जाते और मोह करते जाते।

गाली देने के शौकीन जैसे गाली देते जाते और डडे सहते जाते ऐसे ही विषय भोगनेके शौकीन अपमान सहते जाते और विषय भोगते जाते अन्य को तुच्छ समझना भी एक तुच्छता है। आत्मन्! पर विषयक विकल्प क्या तेरा लाभ है या हानि।

अपना काम सम्हाल ले देख असावधानी न कर। सर्व विशेष सामान्य हो जाय तेरी नजरमें सो ही उद्यम कर।

कहा पडा है शरीर चिन्ता मत कर
कहा खडा है निमित्त चिन्ता मत कर
कहा मडा है सयोग चिन्ता मत कर
कहा गडा है कर्म चिन्ता मत कर
कहा घडा है परिणाम चिन्ता मत कर
कहा चडा है चित्त चिन्ता मत कर
कहा जडा है राग चिन्ता मत कर

तू एक ध्रुव निजभावही को तो देखता रह, जो भी अच्छा होता है वही होकर रहेगा।

ता० १७-६-५६

कोष्ठक नियम—

१ कोष्ठक के समक्ष यदि "+" चिन्ह हो तो कोष्ठक तोडनेपर चिन्ह ज्योके त्यो रहेंगे। जैसे —४+(५—२)=—४+५—२=—१। —अ+(व—स)=—अ+व—स दो कोष्ठक क समक्ष यदि "—" चिन्ह हो तो कोष्ठक तोडनेपर कोष्ठक के भीतर के सभी पदोके सामने के चिन्ह वदल जाते है। जैसे — +१०—(६—४)=१०—६+४=८। अ—(४—२अ)=अ—४अ+२अ=—अ ३ कोष्ठकके समक्ष यदि कोई चिन्ह न हो तो कोष्ठक के बाहर रखे हुए पदसे उसके भी तरके समस्त पदोके साथ चिन्हानुसार सक्रण न होता है। जैसे —४(—५+६)=९—१०=—१, —क(—क+ख—क²)=+क²—क ख+क³ ४-यदि कई कोष्ठक हो तो सबसे पहिले छोटे कोष्ठक तोडना चाहिये और अन्त तक ऐसा ही क्रम रखना चाहिये। कोष्ठक का किसी भी जगत स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है जब तक कि वह तोड न दिया जावे। जैसे +८—[१०+(५—व)+९]= ८—[१०+५—व+९]=८—[२४—ब]=८—२४+व=—१६+ब।

४अ—[५ब+(१०—६व)—८]=४अ—[व+१०—६ब—८]= ४अ—[—व+२]=४अ+व—२।

६—[८+{१०—(६—अ)—४}+१०]=६—[८+{१०— ६+अ—४}—१०]=६—[८+१०—६+अ—४+१०]=६—[१८ +अ]=६—१८—अ=—१२—अ।

चचलता ही क्षोभ उत्पन्न करवाती है और चचलता ही धैर्यके लिये उत्साहित करती है। जिनके चचलता नहीं उनके न क्षोभ है और न धैर्यके लिये यत्न है। बहिर्दृष्टि नही है उनके न परके उपाकारकी बुद्धि है और न परके अपकार की बुद्धि हे। रागसे ही ससारका मार्ग चलता है और रागसे ही मोक्षका मार्ग चलता है जिनके राग नहीं उनके किसी मार्ग पर जानेका यत्न नही।

आत्मन् यह नरजन्म कल्पवृक्ष हे और ऐसा अनुपम कल्पवृक्ष है कि

यह बिना मागे ही उत्तमफल देता है और मागनेपर देता नहीं है।

इस मनुष्यदेह के वशमें रहे याने इसके अनुरागी रहे तो देख यह देह तो विनसेगा ही फिर तेरे हाथ क्या रहेगा ? पापकलक। इसका फल क्या होगा दुर्गति। उसमें क्या रहेगा वहिर्दृष्टिसे होनेवाला महान् सक्लेश। वह तुम्हे रुचेगा नहीं दुखी हो ओगे।

ता० १९-६-५६

अब ममत्वत्यागरूप महान् तप कर लो जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही मानते रहो।

सभी पदार्थ अपनी अपनी ही सत्तामें रहते है अत प्रत्येक का सबमें साथ अत्यन्ताभाव है। ऐसा अत्यन्ताभाव जिसकी समझ में है प्रत्येक पदार्थ की स्वतन्त्रता जिसके प्रतिभास में है उसे मोह सता नही सकता।

मोह ही एक मात्र दु ख है। मोह गया दु ख गया। मोह हुआ उसके साथ ही दु ख आया।

ज्ञानानुभूति ही परम आनन्द है ज्ञानानुभूति नहीं तो वहा परम आनन्द भी नही, ज्ञानानुभूति हुई उसके साथ ही परम आनन्द होगया।

जब तक मोह विकार है परसयोग छूट नही सकता, मोह विकार गया परसयोग छूटनेमें विलम्ब नही।

ससारमें समता ही सार है शेष सब असार है ससार मोहके अनुसार है अन्यथा ज्ञानका प्रसार है। ससार अपनेपरिणामका विसार है शेष सब उपसार है। ससार मिटनेका स्वसमय आसारहै शेष सब नि सार है।

ता० २०-६-५६

मुहभूमीजोगदले पदगुणिदे पदधण होदि-सर्वधन
आदी अन्ते सुद्धे वट्टिहिद रूवसजुदं ठाणे-गच्छ
आदिधनोन गणित पदोनपदकृतिदलेन सभाजित-चय
व्येकपदार्धघ्नचयगुणितगच्छ उत्तरधन-चयधन
व्येक पद चयाभ्यस्त तदादिसहित धन-अन्तधन
पदाभाजित चयधनमादिधन-आदिधन

आदिधन पदाभ्यस्त पूर्वधर्न-सर्वआदिधन

स्वय स्वमें लीन हो जावे वाह्य विकल्प न रहे यही एक काम रह गया करनेको वाकी तो सब धोका है विपदा हे।

खुद खुदमें कैसे लीन हो सके इसका उपाय पर से हटना है। पर से कैसे हटा जाय ? सम्यग्ज्ञानी होकर विकल्प हटालो। यदि यह तुझ से नहीं बनता तो और तो कोई उपाय नहीं। करना तो यही पडेगा। आगे यह करोगे तो अभी से क्यो नहीं कर लेते हो।

स्व के लिये स्व ही महान् है परन्तु वह स्व तेरे लक्ष्यमें कैसे आवे ? स्व के अनुभवके लिये तो बाह्य परिचय-विश्वास चक्र-छोडना पडेंगे। पदार्थ को जैसा का तैसा जानते रहो फिर कोई विडबना नहीं रहेगी। क्या करना ! पदार्थको किसीको भी एकको देखो उस एकको ही जानो स्वतत्त्रता देखो सब उचित परिवर्तन अभी हो जावेगा।

ता० २१-६-५६

जीवका नारक तिर्यच मनुष्य देव होना निमित्तनैमित्तक भाव से औटोमेटिक होता रहता है-आप कुछ चाहोगे और कुछ बनोगे तुम्हारावश वहा नही। हो आप कुछ न चाहोगे तो निर्मल अवस्था मिलेगी वहा जरूर वश है। जैसे भाव करोगे वैसे कर्ममें स्वय बन्धना होगा-जैसा कर्म उदय होगा वैसी गतिभ्रमणा होगी। यह निमित्तनैमित्तक सम्बन्ध की गति है। तुम्हे अनन्त दु ख नहीं चाहिये उसकी एक ही कुजी है स्वशुद्धात्म सम्यक्-श्रद्धानज्ञानानुष्ठान रूप एक ज्ञातापरिणाम। तुम्हें अनन्त दु ख चाहिये हो तो उनकी अनेक कुञ्जी है-विविध मिथ्यात्व अविरति व कषाय।

जरा यहीं मनको समझा लो तो अनन्तक्लेशो से बच जावोगा-जरा मनको ढीला कर दो तो सभव है कुछ पता भी न चलेगा कितना पतन हो जावेगा।

धर्मपथ में चलते हूए कष्ट आवें तो जरा कष्ट सहलो अन्यथा क्या पता कैसे कष्ट आवेंगे जिनका पार भी न पा सकोगे।

इज्जत पाई तो गर्राहट मत करो नहीं तो नहीं तो उस आकुलता

के कारण तुम तुच्छ होगे जिससे अच्छे तो वे जिनकी इज्जत नही है ।

ता० २२-६-५६

धन पाया तो गर्राहट मत करो नही तो उसके आकुलता के कारण तुम तुच्छ होगे जिससे अच्छे तो वे जिनके धन नहीं है ।

आजकल लोग इसमें विवाद करने लगे हैं कि पूजा से पुण्य होता धर्म नही होता है एव पूजासे धर्म होता है । वास्तविकता तो यह है पूजाकी कुछ न पूछो पूजक आत्माकी पूछो वात । पूजक आत्मा सम्यग्दृष्टि है तो उसके पूजाके समय दो धारा चल रही हे ज्ञानधारा अनुरागधारा । दोनो धारावो के पर्यायरूपमें भी एक साथ चलने में कोई विरोध नही हे क्योकि ज्ञानगुणका व चारित्रगुणका परिणमन तो चलेगा ही उसमें क्रमवर्तिता नही है । तो जब ज्ञानधारा व अनुरागधारा दोनो एक साथ चलते हैं फिर ज्ञानधारासे होनेवाले धर्म के व अनुरागधारासे होनेवाले पुण्यके एक साथ होनेमें कोई विरोध नही है । पुण्य व धर्म के एकसाथ होनेको वात तो कुछ जल्दी भी समझमें आ सकती किन्तु देखो तो सम्मग्दष्टिके जब कदाचित पापपरिणाम भी हो तो वहा भी ज्ञानधारा व अशुभ परिणामधारा दोनो एक साथ चल रही और वहा पाप व धर्म एक साथ होजाते हैं । देखो सत्यता दोनोमें है किन्तु नयबोध का उपयोग न लेनेसे व्यर्थ ही विवादका अड्डा वनाया है ।

ता० २३-६-५६

कुछ लोग जरासा ज्ञान पाकर जिनतीर्थधारामें भी कुछ विलक्षणता दिखवाकर अपनी बहिर्दृष्टि पोषकर अपना अकल्याण करते है । अपनेको जिनतीर्थधारामें ऐसे घुल मिलकर रखना चाहिये था कि किसीको पृथक्रूप से बातका तो क्या अपना भी पता न रहता ।

मै दुनियाके लिये कुछ नहीं, मै हू बस अपने लिये । अहो यह वाक्य सुननेमें भद्दा लगता किन्तु वस्तु स्वरूप की दृष्टि रखकर इसका मर्म आजाय तो भैया भद्दा याने भद्र-कल्याण होजावे ।

तुम अपने स्वभावको पहिचानो और स्वभावके अनुसार चलो । तुम्हारा कुल चैतन्य है तुम अपने कुलको पहिचानो और कुलके अनुसार

चलो। तुम्हारी जाति चेतना है तुम अपनी जाति पहिचानो और जातिके अनुसार चलो। तुम्हारा धन वैभव तुम्हारा सामर्थ्य हे तुम अपने धन वैभव को पहिचानो और धन वैभवके अनुसार चलो। तुम्हारे भाई बधु तुम्हारी चेतनामें वसनेवाले अनन्त गुण हैं तुम अपने भाई बन्धुवो को पहिचानो और उनके अनुसार चलो। तुम्हारी रमणी तुम्हारी निजकी सहज परिणति हे तुम अपनी रमणी को पहिचानो और उसके अनुसार चलो।

ता० २४-६-५६

निर्विकल्प होना तो चाहते हो और यत्न भी करते हो निर्विकल्प होनेके लिये। सो भैया देखो प्रथम तो निर्विकल्प होना चाहते हो यह भी एक विकल्प है फिर निर्विकल्प होनेका यत्न है वह भी एक विकल्प हे। फिर भी निर्विकल्प होनेके लिये उस विकल्पको मना नहीं करते। वह तो होवेगा किन्तु उसे प्रतिषेध्य जानो। और भी देखो तुम्हारा वश सर्वत्र ज्ञाता रहनेमें चल सकता है सो निर्विकल्प होने के भाव और यत्न होनेपर भी जो निर्विकल्प नही हो पाते हो और उसकेएवज विकल्प तक रह जाते हो सो घवडावो तो हो न, तुम तो जो हो रहा हे उसके ज्ञाता बन जावो। मान जावो तुम्हारा काम बनेगा।

एक नेत्रेन्द्रियकी छुट्टी कर दी जावे याने उससे काम न लेवे तो आत्माको वडा विश्राम मिल सकता है। लोग कहते हे कि स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रिय खराब हैं किन्तु देखो स्पर्शन और रसना को उत्तेजना देनेवाली कौन इन्द्रिय हे। अच्छे रूपको देखा सुहावना लगा और स्पर्शनइन्द्रियको उत्तेजना मिली। अच्छे पकवान को देखा या अच्छी गन्धता लो रसना-इन्द्रियको उत्तेजना मिली अव बढ़िया पकवान खाने की रीस उत्पन्न हो गई। नेत्रेन्द्रिय से देखनेका काम न लेवे तो स्पर्शन रसना तृष्णा उत्पन्न न हो। अभ्यास करो जितना हो सके अधिकसे अधिक उतने काल नेत्रको बन्द रखो।

ता० २५-६-५६

इन्द्रिय देखती और जानती नहीं है किन्तु इन्द्रिय एक चश्मावत् हे। जैसे चश्मा स्वय देखता नहीं है किन्तु चश्मा उपकरण को निमित्तकरके नेत्र

इन्द्रिय ही स्वप्न देखती है वैसे इन्द्रियको निमित्तपाकर आत्मा ही स्वप्नं देखता व जानता है। अस्तु

नेत्रेन्द्रियका प्रथम उपयोग उत्तम होना चाहिये फिर अन्य इन्द्रियोके उपसर्गकी आशका नही।

आत्मबल ही सत्यवल है अपना। समस्त परकीय विचार दूर कर केवल अनादि अनत अहेतुक निज पारिणामिकभावकी दृष्टिके प्रसादसे आत्मवीर्य प्रकट होता है आत्मरक्षाके लिये।

हे आत्मन्! आत्मस्वभावदृष्टिसे च्युत होकर जो विकल्प होते हैं वे ही विपदायें हैं। उन विपदावोसे बचने के लिये आत्मस्वभावका आश्रय करो। धन्य हे सम्यग्ज्ञान! यदि तुम न होते तो जीवके उद्धारका कोई उपाय ही न॰ था राग द्वेष आदि फन्दसे नही बच सकते तो ज्ञान तो यथार्थ कर लो यह ज्ञान तुम्हारी अवश्य रक्षा करेगा।

ॐ नम सम्यग्ज्ञानाय, ॐ नम सम्यग्ज्ञानमूर्तये। ॐ शुद्ध चिदस्मि।

ता० २६–६–५६

१—कुछ मतविचारो आराम से वैठ जावो पश्चात् निर्विकल्प स्थिति का अनुभव भी हो सकता।

२—अपने विशष को याने पर्यायको अपनेसे परिणमी ऐसा देखो पश्चात् निर्विकल्प स्थितिका अनुभव भी हो सकता।

३—अनादि अनत चैतन्यमात्र हू ऐसा अपनेमें देखो पश्चात् निर्विकल्प स्थिति का अनुभव भी हो मकता।

४—निरावरण परमात्माकी आतरिक स्थिति देखो वह सब विशेष होकर भी सामान्यवत् है। उनके यथार्थ विशेषके देखनेसे सामान्य देखना रह जावेगा। सामान्य फिर सामान्य हो होता है वहा इसका सामान्य उसका सामान्य यह बुद्धि नही होती इस प्रकार निरावरण परमात्माके यथार्थ विशेषके विचार के पश्चात् निर्विकल्प स्थिति का अनुभव भी हो सकता।

५—जिसको देखते हो या विचारते हो वह पर्याय हे पर्याय अध्रुव है जितना देखते हो उतना एक अखड सत् नही है सो वह सब देखा गया असत्यार्थ

है उससमायाके मूल एक एक द्रव्य हैं उनमेंसे किसी भी एक द्रव्यको देखो पश्चात् निर्विकल्प स्थितिका अनुभव भी हो सकता।

ॐ निर्विकल्पात्मने नम, ॐ सामान्यदर्शनज्ञानात्मने नम, ॐ नम: परमपारणामिकभावाय। ॐ सत्यार्थाय नम:, ॐ सत्यार्थन् नम। सत्यायमनुकूलयितु नम।

ता० २७-६-५६

त्यागवृत्ति आराममें निभति परन्तु आराम में नहीं निभति कष्टोके बीच आराममें मनोवृत्ति निर्मल हो सकती है।

आत्मन्! बहुत सब कुछ करते हुये अनतकाल होगया ना, जो कुछ करना सोचा जाता है वह अनोखा तो नहीं है अत उसका विकल्प छोड अब अपने निज परम चैतन्यस्वभावमें उपयोग को स्थिर कर।

जो लोग मानते हैं कि आत्मा न पूर्व भव में था और न अगले भव में रहेगा उनकी दृष्टि रखकर भी देखो इतनी सी उम्र की ही बात विचारो आखिर सुख तो वही कहलावेगा जहा आकुलता न होवेगी। अब परीक्षा कर लो परकी दृष्टिमें आकुलता रहती कि निज प्रतिभाससामान्यकी दृष्टि में आकुलता रहती परको विचारो तो पर का परिणमन अपनी परिणति से तो होता नहीं-इसके लिये साइन्स का सहारा ले लो-परीक्षा करलो-फिर होगा क्या तुम विचारोगे कुछ, पर परिणमेगा कुछ, तब आकुलता ही रही ना। जब पर तुम्हारे अनुकूल, परिणमेगा तो वहा तुम और प्रकारके विचार कर आकुलता बढावोगे। तब कुछ तुम्हारे अनुकूल भी पारिणम जाय जितना कि तुम्हारे सयोगमें है तो अन्यकी वाञ्छा करने लग जावोगे। न भी अन्यकी वाञ्छा करोगे तो जो अनुकूल परिणमता उसकी खुशीमें तुम अपना वलि-समर्पण-चेष्टामें बढाकर आकुलता पावोगे। आखिर आकुलतामें ही इतनी उम्र जावेगी। सो परका विकल्प न करो।

ता० २८-६-५६

बुद्धि पाई है तो विरक्त अनुभवी सत्पुरुषोकी सगति करो और वाणी सुनो।

विभूति पाई है तो विभूति रहित गरीब लोगोकी परिस्थितिया जानो और विभूति त्याग कर स्वसमाधिके यत्नमें रहनेवाले सतो की बात भी देखो।

शरीर पुष्ट पाया है तो शरीरके अपुष्ट होनेका यत्न मत करो, अर्थात् ब्रह्मचर्य का घात न करो। शरीर स्वय अपुष्ट होता हो तो होने दो। आत्मा को–अपनेको पुष्ट बनाओ, इसमें शरीरदृष्टि छोडना प्रथम यत्न है।

लोग अपना अपना कार्य चाहते है अपनी इच्छासे प्रवर्तते है यह तो वस्तुके परिणमन की यथार्थ बात है ऐसा देखकर मनमें उद्विग्न मत होओ और न ऐसा भाव लावो कि यह तो मेरे अधिकारमें रहनेवाला है यह ऐसा क्यो करता है या अपना ही उत्कर्ष क्यो चाहता है। कोई किसीके अधिकारमें नही है तथा सभी प्राणी अपना ही उत्कर्ष चाह सकते व अपना ही कार्य कर सकते। जिस परिणाममें दूसरोको भला करनेका भाव हो रहा है वहा भी वह अपने गुणोका परिणमन कर रहा है, अन्यका कुछ नही कर रहा है और न कुछ कर ही सकेगा। ॐ विविक्तात्मने नम, ॐ स्वपरिणताय नम। ॐ स्वतन्त्राय नम।

ता० २९–६–५६

ब्रह्मचर्य ही परम आनन्द का उपाय है परम आनन्द है स्त्री सम्बन्धी अशुभ अनुराग न करके उस विपदा से विराम लेना ब्रह्मचर्य है।

किसी भी पर देहका राग न करके उस विपदासे विराम लेना ब्रह्मचर्य है।

जिस परक्षेत्र में निज आत्मा वस रहा है उस इस देहका राग न करके उस विपदासे विराम लेना ब्रह्मचर्य है।

जिस अध्रुव विकार भावरूप परिणति में यह आत्मा रहता है उस विकार का राग न करके उससे विराम लेकर अपने में रमना ब्रह्मचर्य है।

जिस गुणपरिणति में यह आत्मा रहता है उस परिणतिमें न अटककर अपने ध्रुव स्वभावमें रमना ब्रह्मचर्य है।

जिन अनतधर्मो स्वरूप यह आत्मा है उन धर्मो के भेद विकल्पमें न अटककर कर अपने अभेद स्वभाव में रमना ब्रह्मचर्य है।

सारी झटकोसे निवृत्त होकर जो एक जाना गया उस एक विषयक विकल्पसे भी दूर होकर निर्विकल्प अनुभवन रह जाना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य पर तप, ॐ नमो ब्रह्मचर्यधर्माय, ॐ न परमब्रह्मचारिणे, ॐ नम परमब्रह्मचर्य परिणताय, ॐ नम परमब्रह्मणे, ॐ नम परमपारिणामिकभावाय। ॐ तत् सत्।

ता० ३०–६–५६

मैं आत्मा सनातन चित् हू इसमें हो रहीं औपाधिक परिणतियो से मेरी वरबादी है। नेत्र इन्द्रिय से किसे देखू जिससे मेरी आत्मा शान्त रहे, कुछ भी देखने से मेरा हित नही। कषायका वेग हो तो देखना पढने लिखने देवगुरूदर्शनमें नेत्रेन्द्रिय का प्रपात करो। सूघने से मेरा हित ही क्या है, मुझे कुछ सूघने को नही चाहिये। मै क्या सुनू सुननेसे भी मुझे क्या ? कषायका वेग ही हे तो ज्ञानस्वरूपकी स्तुति व वैराग्यप्रद शब्द ही सुननेमें कान को अवसर रहो। रसना इन्द्रिय हायरी रसना तू मानेगी नहीं–क्या किया जाय भोजन शोधनेको देखना पडता है, नही तो तेरे विषयको मै देखता भी नहीं–खैर मुझे स्वादसे क्या प्रयोजन ? स्वाद मेरा क्या साथ देगा ? स्वाद अनित्य है यह तो मिट जानेवाला ही भाव हे अभी ही मिट जायगा मिटने-वालेको क्या अपनाऊ। चिन्मात्र परमपारिणामिक भावकी दृष्टि व आश्रयसे सहज उत्पन्न हुआ आनन्दका मै अधिकारी हू मैं अभी सहज आनन्द भोग सकता हू–उस परम स्वादके सामने रसनास्वादकी कुछ कीमत नहीं–भोजन चले जावो पेटमें, धर्मसाधन के योग्य स्वास्थ्य को बनानेके निमित्त बनना–स्वाद नहीं चाहिय मुझे स्वाद नही चाहिये मुझे। स्पर्शनको तो जीतना बडा सरल है–इसका सहायक नेत्रेन्द्रिय है–नेत्रो पर पलक का ढक्कन है इन ढक्कनोको मै खोलूगा नही कुछ दिखेगा नही–स्पर्शनको आश्रय क्या मिलेगा विकार भाव क्षणिक है खुद मर मिट जानेवाले दुष्ट पर विचार ही क्या करना हे। हे विकार परिणाम जावो मुझे आनन्दका उत्तम स्थान स्वाधीन प्रभुका प्रसाद मिल गया है। रही शीत गर्मकी बात–सो शीत भी सही जा सकती है किन्तु उसका फल असमयमें नरपर्यायका वियोग हो सकता है उसकी

भी परवाह नहीं किन्तु सयम साधना मनमाफिक नही कर पाया वह करना है—अत एक क्लेश और फूससे बचा लिया जासकता है। गर्मीका सहना जो कुछ कठिन लगता है साधारण गर्मीकी तो परवाह नही। कठिन गर्मीमें किसी अच्छे स्थानपर दिन भर बैठा रहूगा—। परन्तु स्पर्शन ! अब तेरे वशमें सर्वथा यह आने का नही।

दुःख कषायका है—कषायका मूल—इन्द्रियविषय है—इन्द्रियविषयोकी प्रबलता वहा है जहा परीषहजय नही है—अत परीषहजयमें उत्साह रुचि करो। मिथ्यात्व तो हट चुका क्योकि मुझ चिन्मात्रसे सर्वपदार्थ अत्यन्त भिन्न है यह वस्तुस्वरूप देखकर दृढ प्रतीति होगई अब तो स्वभावमें स्थिरता-की कमी है। सो अब यही प्रोग्राम उपयोगमें घूमता रहता है कि स्वभावम स्थिर उपयोग रहे।

ता० २–७–५६

हे प्रिय निज आत्मान् ! तुम्हारे ही खुश करनेको मैंने अनेक चेष्टायें की परन्तु मिथ्यात्वमें तेरे बिगाडका ही काम करता रहा। ईमानदारीतो मेरी पहिले भी थी क्योकि सर्वत्र मैं तेरी खुशी के लिये कमर कसे रहा बेईमानी करके भी खुश तुम्हीं को करना चाहा, परकी दृष्टिकरके भी खुश तुम्हीको करना चाहा, परको खुश करने की चेष्टा करके भी खुश तुम्हीं को करना चाहा। परन्तु मिथ्यात्वमें वह सब चेष्टायें उल्टी ही होती रहीं। अब जाना मैंने खुश (प्रसन्न) होनेके मर्मको। अब तो तेरे स्वभावकी पद्धति से ही तुझे प्रसन्न करना चाहता हू। अन्य बातें क्यो बीचमें आती हैं। पर्याय बदमाश बात मतकर, अब अट पट गट पट नही चल सकती। मैंने जान लिया मैं क्या हू—मैंने मान लिया जो मैं हू। अब मैं हे पर्याय तुझसे कुछ भराई नही करूगा —क्या तुझसे चाहूगा—तुमतो एक क्षण बाद मर मिटने जा रहे हो।

मैं औपाधिकभावोसे रहित चैतन्यमात्र हू, औपाधिक होते हैं तो होओ —मैं तो चेतनामात्र हू ऐसा भी तो बहुतो को होजाता है कि शिरमें चोट लग जावे और पता भी न पडे तो चोट से क्या खराबी हुई रागादिक होते हो तो

होश्रो उनकी बला से मै चेतनामात्र हू मेरेको क्या खराबी। दुष्टके पास रहो तभी ना कोई उपद्रव शिर पर श्रावेगा। मै तो अपने स्वरूपके पास हू विकारसे पास जाना ही नहीं।

ता० ३–७–५६

उद्धारकी भी घबडाहट न करो उद्धार तो हो ही रहा है जब तुम वस्तुस्थिति पहिचान गये और ज्ञाता दृष्टा रहते हो व ज्ञाता दृष्टा रहने यत्न करते हो। रहो ज्ञाता दृष्टा–उद्धार है। मै सर्वसे पृथक् चैतन्यमात्र हू–कर्मोदय को निमित्त करके जो विभाव होता है वह होता है होश्रो–निमित्त-नैमित्तिकसबधकी बात है वह मेरा ज्ञेय रहो–निमित्त ज्ञेय–नैमित्तिक ज्ञेय। यह शरीर मै नही हू–मेरा नही है– मै शरीरको देखना भी नहीं चाहता। मै श्रमूर्त चेतन ह।

शरीरमें श्रात्मा वसता है श्रौर ऐसा वसना है जैसे इन्धनमें श्राग लग जावे तो श्राग इन्धनमें वसती है। जितनेसे लिये दृटान्त है उतना ही देखना तात्पर्य श्रात्मा देहके एक क्षेत्रावगाह में वस रहा है, वहा भी यद्यपि शरीर क्षेत्र भिन्न हैं श्रात्माक्षेत्र भिन्न है किन्तु सयोग से देखो एक क्षेत्रावगाह हो रहा है। केवल बाहर के बाल नाखून श्रौर श्रतीव पतली चमडी में श्रात्मप्रदेश नहीं है। मगर फिर भी देखो जब श्रङ्गोपाङ्ग नामकर्मका उदय नहीं रहता ऐसा जो गुणस्थान श्रयोगकेवली वहा श्रात्मप्रदेश यद्यपि शरीरक्षेत्र में हे तथापि शरीरसे सम्बन्ध नही है उनका। क्योकि जैसे यहा नाक कान पेट श्रादि की जहा पोले हैं वहा श्रात्मप्रदेश नही है वैसी बात श्रयोगकेवाली गुणस्थानमें नही है। वहा तो जहा तक श्रात्मप्रदेश ऊपर नीचे चारो श्रोर सर्वत्र फैले हैं उसके श्रन्दर भी सर्वत्र श्रात्भप्रदेश है श्रात्मप्रदेशोसे पोल नही है ठोस हे। फिर इतना का ही इतना गुणस्थानातीत होजानेपर भी श्रनतकाल तक सिद्ध श्रवस्थामें बना रहता है। श्रात्ममर्मके लिये बडे बडे लोग फकीर हुए–उस श्रात्ममर्मको जैनाचार्योकी परमकृपासे तुमने सहज जान लिया यह उत्तमबात है–श्रब उत्तम जानकर जघन्य न हो।

ता० ४-७-५६

हमारा प्रभु निज आतमराम ।
परमातम प्रभु से पहिचाना, अन्तर आतमराम ॥टेक॥
प्रभु परिचय बिन सुख जाननको भ्रम्यो अनेको ठाम
(भ्रमत रहा हर ठाम)
सहज सिद्ध चैतन्य पिण्ड यह अब जाता निज धाम ॥१॥
कीरति रूप गध सपरस रस शब्द भोग बेकाम
परस रूप रस गध शब्द कीरति इच्छा बेकाम
इनसे पृथक् स्वतत्र अमर अज हू चेतन निष्काम ॥२॥
प्रभुता देखता विपदा भागे, मिले सत्य आराम
सहजानन्दमूल कारणपरमातम आतमराम ॥३॥

इच्छा ही दु खका मूल है—अब कुछ इच्छा मत करो जगतके ज्ञाता द्रष्टा रहो ।

अब तक कितने विभाव किये उनका बता क्या फल क्या लाभ आज तेरे पास है । लाभ तो क्या निर्बलता-हानि ही तुम्हारे को हुई है विभाव से मुख मोड स्वभावमें दृष्टि जोड अवश्य ही आनन्द होगा यह पक्की साइन्स है ।

ता० ५-७-५६

आवश्यक सत् कर्म इतने होना चाहिये कि विषय कषाय को अवकाश न मिले । ज्ञानभावनामें रहे आवो कोई आवश्यक सत्कर्म छूट जाय उस का दोष नही है क्योकि ज्ञानाराधन सर्वोत्कृष्ट आत्मक्रिया है । किन्तु ज्ञानाराधनमें तो रहा न जावे और आवश्यक क्रिया में शिथिल हो जावे उसमें पतनको अवसर है ।

वस्तुत आवश्यक उस कार्य को कहते है जो अवश आत्माके हो जाय । अवश कहते है जो अन्यके वश न हो अर्थात् शुद्ध चिन्मात्र निजस्वरूप के वश हो इसके अतिरिक्त अन्य परभावके वश न हो उसे अवश आत्मा कहते हैं । उस अवश या स्वाधीन आत्मा को जो कार्य है उसे आवश्यक कहते है । अब तो लोगोने विषयसाधनोके कार्यको आवश्यक सज्ञा दे रखी है । अनावश्यक

को आवश्यक मान लिया और आवश्यक को समझा हीं नहीं ऐसे मोही प्राणी अधिक हैं। अब उनकी वोट के आगे आवश्यक शब्द की मलहम पट्टी हो रही है। होओ–आवश्यक तो आवश्यक ही है–किसी मोहीके माननेसे अनावश्यक आवश्यक नहीं हो जावेगा।

ॐ अवशाय नम, ॐ शुद्ध चिदस्मि

ता० ६–७–५६

कहीं भी होओ कैसी ही परिस्थितिमें होओ निज आत्मा की ओर उन्मुख रहो तो शाति रहेगी। परकी ओर दृष्टिमें निराकुलता हो ही नहीं सकती क्योंकि आकुलताके ही कारण परकी ओर दृष्टि करना पडी परकी दृष्टि जब तक है तब तक आकुलता रही और वह पश्चात् अन्य आकुलता का कारण बनी इस तरह आकुलता का पोषण होता जावेगा जबतक पर बुद्धिकी कुटेव न छूटेगी। आखिर तो परद्रव्य छूटना है जिनमें इच्छा रख रहे हो, मरने पर तो परमयोग इस भवका छूट ही जावेगा और इस जातिकी इच्छा भी छूट जावेगी तब इस अल्पकालके लिये यदि इच्छा पहिले से ही छोड दो तब सदा के लिये भला हो जाय।

आत्मन् ! मानो अपने हितकी बात।
आत्मन् ! करो न अपने गुणका घात।
आत्मन् ! तेरी प्रभुकी एक हि जात।
आत्मन् ! तुझसे भिन्न निराला गात।
आत्मन् ! तनवश हो क्यो खट्टा (कटुफल) खात।
आत्मन् ! अपना क्यो आनन्द न भांत।
आत्मन् ! तेरो सुख तेरे ही हात।
आत्मन् ! निजरतिमें आनन्द न मात।

सदा अपना ध्यान रखो, गत न शोच्य, भावि न काम्यम्।

ता० ७-७-५६

◇◇◇ समयविभाग ◇◇◇

प्रातः ४	–	४।	आत्मकीर्तन	} ॥ घ०
४।	–	४॥	कर्तव्य-प्रवचन	
४॥	–	५।	स्वाध्याय आध्यात्मिकग्रन्थ	
५।	–	६।	सामायिक	
६।	–	७॥	शौचनिवृत्ति, शुद्धि, वदना	
७॥	–	८	जीवस्थान चर्चा की बडी क्लास	(॥ घ०)
८	–	८॥।	प्रवचन	(॥। घ०)
८॥।	–	९।	जीवस्थान चर्चा की छोटी क्लास	(॥ घ०)
९।	से	९॥।	विराम व समाज वार्तालापें	(॥ घ०)
९॥।	से	१०॥।	आहारचर्या वसतिकागमन	
१०॥।	से	११॥	विश्राम	
११॥	से	१२॥	सामायिक	
१२॥	–	२	लेखन	
२	–	३॥	करणानुयोग आदि का स्वाध्याय	
३॥	–	४	अध्यात्मचर्चा का पाठन	(॥ घ)
४	–	४॥	विश्राम	
४॥	–	५॥	आध्यात्मिक पाठ	
५॥	–	६॥	धर्मिसेवा-सस्थासेवा-दुखिसेवा	
६॥	–	७॥	प्रतिक्रमण, सामायिक,	
६॥	–	८।	छहढालाके ३ पाठ-भजन	
८।	–	९	तत्त्वचर्चा	(॥। घ)

ता० ८-७-५६

निज आत्मतत्त्व की दृष्टि रखना आत्मोन्नतिके लिये अतीव आवश्यक है।

अपनी दृष्टि में आत्मा है तो वहीं तीर्थ है। स्थान न कोई बुरा है

और न कोई अच्छा है। विकल्प ही स्थानमें अच्छे बुरे का सकल्प कराता सो विकल्प ही बुरा है और निर्विकल्पता अच्छी है सर्वत्र यही निर्णय करना।

ता० ९-७-५६

आज दुपहरकी सामायिक के पश्चात् जगल में आया बडा अच्छा भाव रहा। आत्मा की ओर उन्मुखता रहे इसकी ही रटन रही इसी काल में लिख भी रहा हू। भाव ऐसा है कि प्रतिदिन आहारके पश्चात् एक आधा मील दूरी पर जगल में या किसी एकान्त बागमें या पेडके नीचे जाकर रहा करू शाम होने से पहले ठहरनेके स्थानपर पहुच जाया करू। लिखनें, ध्यान करने, स्वाध्यायमें दिनके समय का अधिक उपयोग करू।

वन उपवनके एकान्तका वातावरणमें आत्माके पर सम्बन्ध की समक्षता न होने से विभावोकी न्यूनता हो सकती है। यद्यपि विभावोकी न्यूनता वास्तव में अपनी निर्मलता योग्यता से होती है। तथापि प्रेक्टींकल करके देख भी तो लो क्या आनन्द आता है एकान्त के वातावरणमें। मुझे तो यह बडा सुहाता। हे नाथ तेरे ज्ञानमें ऐसा ही ज्ञेय हुआ हो मैं अपना अधिक समय शहरसे वाहरके एकान्तमें बिताऊ।

अपनी कमाई सबसे बडी कमाई है। अपने स्वरूपका अनुभव करो। लाख बात की बात यही निश्चय उरलावो—तोड सकल जगदद फद निज आतम ध्याओ।

विकल्प कर कर हैरान हो गये होना। हेरान होने पर तो चित्तमें यह आजाती है कि छोडो इसका पिण्ड। जरा कुछ समय ऐसा ही तो विताओ कि विकल्प कुछ न कर आराम में बैठ जावो।

ता० १०-७-५६

आज आहार करके सीधे जगल में आये ८ घटा रहा—शातिका अनुभव तो नहीं हुआ पर अशाति भी विशेष नही रही।

इस अमूर्त आत्मामें विकल्प की बनावट क्या है कैसे हे ज्ञानवान आत्मामें ज्ञेय आगये अर्थात् जानन हो गया यह तो समझ में आजाती किन्तु विकल्पो का मसला कैसा है। मान लिया कोई सूक्ष्म जड़ पदार्थ कर्म नामक है

उसके आत्मा से वियोग होने का समय आगया वियुक्त हो रहा अब आत्मामे विषाद हर्ष सकल्प विकल्प का कैसे निर्माण व निर्माणका क्या ढग कैसे तैयार–कुछ पकड में नही आता। होता तो है–बीत तो रही शिर पर–मानलो किया नही जासकता और इसका भी मना नही किया जा सकता कि कर्म उदय के निमित्त से है, नही तो स्वभाव बनता। और देखो निमित्त होने पर होते है उसमें भी तो कैसे हुए क्या निर्माण आदि पर अचरज होता यदि बिना निमित्त की उपस्थिति के होते तब तो कुछ निर्णय का रूपक ही नही था। सब कुछ है फिर भी अचरज है विकल्प के स्वरूप पर।

आत्मन्! इन विकल्पो में भी क्या रखा अनकूलता का मार्ग तो नहीं है इस फेर में। छोडो जिज्ञासा स्वभावका तो निर्णय है उन्मुख हो जावो स्वभावके।

आत्मन् तेरा सम्बन्ध नही किसी अन्यसे तब लाज सकोच उपचिकीर्षा प्रतिचिकीर्षा प्रचिकीर्षा अपचिकीर्षा अनुचिकीर्षा दुश्चिकीर्षा सुचिकीर्षा विचिकीर्षा अधिचिकीर्षा आदि छोड निज आनदधाम चैतन्य परमात्मतत्त्वमे बस।

ता० ११–७–५६

आज आहारके पश्चात् जगलमें आये सामायिक करते हुए सामने चार चीटे आसपास से ककण लाकर घोसला बनाते हुए दीखे ये भी अपना काम करनेसे नही चूकते। हम अपना काम करनेसे न चूकें।

हम आप जो कोई भी आज निश्चयतत्त्वके मर्मसे परिचित हुवे हैं वे पहिले कुलागत कितने व्यवहारसे गुजरे हैं। आज बालको को व्यवहारसे छुटाकर अभी निश्चयके मर्म मे पहुचाने की चेष्टा हो तो कुछ कहा नही जा सकता कि इसका परिणाम उन पर क्या गुजरेगा। यद्यपि बात यह ठीक है कि व्यवहारबुद्धि छोडकर निश्चयदृष्टिमें आना चाहिये–यह शुद्ध चित् सत्यार्थ है, फिर भी अपनी अपनी ओर सोचकर अपने अपनेपर गुजरी बातोको देखकर कुछ जरा विचार करो और उन्हे कैसी औषधि दी जावे कि सभल सभलकर कम उपदेश्यो का चलना बनकर सत्यसे उनका नाता जुड जावे। इसमें बडी सावधानी की कला चाहिये वक्तामें।

इसकी वक्तावोपर वडी जुम्मेदारी है अन्यथा वीर जिनेन्द्रके शासनकी प्रभुताके अपवादकारक वक्ता बनेंगे। जिस रत्नको हमने पाया है उस रत्नकी मट्टीपलीत करा देना औरो को औरोपर अन्याय है।

अशुभ क्रियावोके करनेके सस्कार जीवो पर इतने पडे है कि जिनके दूर होनेका मुनाफा मिल जावे इतनी बात की गम हो तो भक्ति दान आदि शुभोपयोग उसका दुश्मन नहीं बन जायगा, किसी रस्सीके टूटने पर एकदम न गिर जावे अत पार पर आजावे रस्सी भी छूट जावे घटना भी न टूटे ऐसा यत्न करलें। सत्य तो सत्य ही है उस पर पहुचनेका यत्न भला करो। ॐ शुद्ध चिदस्मि, ॐ नम सहजशक्तिमयाय, ॐ ॐ ॐ।

ता० १२-७-५६

जीवका घात इस लिये भी नहीं करना चाहिये कि वह जीव अपने जीवन कालमें कुछ धर्मोन्नतिकर सकेगा तो उसे उस लाभसे वञ्चित रखना उसके प्रति अन्याय है क्यो कि जो अपने लिय भला हो सकता है उस कार्य में दूसरे को असह्य बाधा दी। इस पर यह प्रश्न उठता है कि यह बात सैंनी पञ्चेन्द्रिय को तो लागू हो सकती है किन्तु जो असज्ञी जीव हैं जैसे असज्ञी पञ्चेन्द्रिय, चौईन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, दोइन्द्रिय, पृथ्वी जल आदि वे मनरहित होने के कारण धर्मधारणके पात्र ही नही है फिर इनका घात पाप नहीं होना चाहिये इसका समाधान ये जीव यद्यपि वर्तमानमें धर्म के पात्र नहीं है किन्तु इनमें भी ऐसा सामर्थ्य है कि एकदम सैनी पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच या मनुष्य हो सकते हैं इनका घात करनेसे इनका सक्लेश सहित मरण होगा सब उससे उत्तम भव पाना तो दूर रहो उल्टी और उनकी निम्न दशा होगी। यत्न पूर्वक घात पञ्चेन्द्रियसे लेकर वादर निगोद तक का हो सकता सो सक्लेश वश में निम्न दशामें पहुच जायेंगे तो इनका और अनर्थ हो जायगा। बाहर निगोद भी उससे निम्न सूक्ष्म निगोदमें पहुच जायगा। सूक्ष्म निगोदका घात यत्न पूर्वक नही हो सकता और उससे निम्न दशा भी और नहीं है। अत स्वकल्याणार्थी इस दृष्टिसे भी जीवोका घात नही करता।

ता० १३-७-५६

वीतरागदेवकी उपासना का समागम मिलना वीतरागता के उपायकी वाणी मिलना किसी अनुपम सुयोग की बात है। इस अतुल निधि को पाकर यदि इससे अपना लाभ नही लिया तो पछताने के सिवाय कुछ हाथ न आवेगा व पछता सकने तक की योग्यता न मिलेगी ऐसी बेहोशी हो जावेगी।

सुयोग पाया है नो वह उपाय करो कि आत्मा ज्ञानाराधनामें बना रहे, अनुराग जगे तो दूसरे भी ज्ञानाराधना पासके इस प्रकार तन मन वचन धनका सदुपयोग करो।

जैनधर्म को पाकर स्वय उसका लाभ लेना दूसरो को लाभ पहुचे ऐसा यत्न नहीं करना सकुचितवृत्ति रखना ऐसे स्वार्थी रहना अपने व पर के प्रति अन्याय करना है। अत· उदार बननेके लिये निम्नलिखित ४ बातो पर अमली व्यवहार करो।

१— साधु ब्रह्मचारी त्यागी जनोको सर्वसाधारण स्थानपर ठहरावो और प्रत्येक प्रवचन सर्वसाधारण स्थान पर ही होने दो जैनसमाज तो मात्र इतना सम्बन्ध रखे कि स्वय शुद्ध भोजन करे और समयपर उन्हे आहार कराये तथा उनके प्रत्येक प्रवचनमें सम्मिलित होवे। उनके गमनागमनके समय व्यवस्था करे।

२— पाच पाच सो मील में एक एक ऐसा आश्रम होना चाहिये जिसमें रिटायर पेन्शनर गृहनिवृत्त गृहस्थो के अध्ययन धर्मसाधन भोजन निवास का प्रबन्ध रहे।

ता० १४-७-५६

३—प्रत्येक प्रान्तमें पर्वतीय ठडे स्थान पर गर्मीके दिनो में (१॥ माह) धर्मशिक्षणशिविर (शातिविद्याशिविर) की आयोजन रहे जिसमें कालेज स्कूलोके छात्र रात दिवस रहकर नियत चर्या द्वारा अपना ज्ञान व आचरण बढायें। अन्तमें उनकी परीक्षा भी रखी जावे।

४—विविध साहित्य विद्वान कवि नेतावोके पास पहुचाया जावे ऐसी सुन्दर व्यवस्था हो।

आज नदीपार एक बागमें ११ बजे से शाम ६ बजे तक रहा उपयोग अच्छा लगा अपनी वर्तमान पर्यायको क्षणिक जानकर उसमें रत होने का सकल्प दूर कर देवे। ज्ञानभावना अपनेवशकी बात है। मैं ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञाता द्रष्टा साक्षी रह सकता हू। अपने चिन्मात्र सनातन स्वभावको देखकर उपाधिवश होनेवाले विकार भावके ज्ञाता मात्र रहो। बस इसी पद्धतिसे चलते जाना कुछ काल तक के लिये कर्तव्य है जब तक कि विकार बुद्धिमें आ सके।

प्रभु खुदमें बसा है इतना भी नही किन्तु प्रभु खुद है। यह आत्मा स्वयं सामान्य विशेषात्मक है। जब इसे सामान्यमय से देखो तो यह उपयुक्त है कि प्रभु खुद है। जब विशेष नयसे देखो तो तह उपयुक्त है कि प्रभु खुद में बसा है। सर्व इच्छामें दूर होकर जब मात्र चैतन्य भाव प्रतिभात रहता है,तब सत्य प्रभुताईका अनुभव हो जाता है।

ता० १५–७–५६

आज उपवासमें धर्मध्यानसहित काल व्यतीत हुआ।

जीवन थोडे दिन का है आत्मानुभवके कार्यमें प्रगति करो। इसका उपाय वस्तु के वास्तविक स्वरूपका अध्ययन मनन है। निजज्ञानसाधनाके लिये तन मन धन बचत सब न्योछावर कर दो। जगत में अन्य कुछ सार नही है मात्र निज स्वभावदृष्टि ही सार है। निजस्वभावका ज्ञान, श्रद्धान, रुचि, प्रतीति, दृष्टि, लक्ष्य, आश्रय, अवलम्बन करके अभेदस्वभावोपयोगी निर्विकल्प होकर कृतकत्य हो जाना।

चारित्र चाहे न बन सके किन्तु यथार्थ ज्ञान में तो कुछ कष्ट भी नही है वह तो बहुत सुगम है केवल इस ओर ध्यान करने की कमी है। किसी को तो कल्याणकी इच्छा भी हो तो भी बाह्य निमित्त नही हो पाते। तुम्हे तो स्याद्वाद परमागम की रियासत भेंट हुई फिर भी प्रमादी रहो तो गजब है।

ता० १६–७–५६

आज आहारके पश्चात १०। बजे जगल आया ५॥। बजे शाम तक रहा।

७—अपना लौकिक महत्व अभ्युदय चाहनेवाला
८ — अपना पारलौकिक महत्व अभ्युदय चाहनेवाला
९—अपना कल्याण चाहनेवाला
१०—अपने कल्याणमय आचार का चाहनेवाला
११— अपने स्वभावकी दृष्टि चाहनेवाला
१२—अपना स्वभाव चाहनेवाला
१३ —अपना निराबाध प्रयोजन करनेवाला

पहिलेके ७ प्रयोजनोमें यदि इतना मोह है कि पर आत्मावोसे मात्सर्य हो जावे परके प्रति कुछ बीते इस ओर करुणा नहीं रहे और अपना ही प्रयोजन देखे तो उसे लोकमें खुदगरज कह डालते हैं। पहिलेके ७ प्रयोजनोमें कुछ हित नहीं है। ८वें प्रयोजनमें कुछ कह सकते हैं। ९वें से १३वें तक पाच प्रकार के स्वार्थी उत्तम हैं और इन पाचोमें भी उत्तरोत्तर पूर्व पूर्व से उत्तम हैं। यहा यदि प्रश्न हो कि परका उपकार चाहने में हित कैसे नही। उत्तर परका मैं कुछ कर सकता हू इस भावमें तो मिथ्यात्व आगया सो महादोष है। श्रद्धा वस्तुस्वरूपके अनुकूल रहकर यदि पर उपकार बने तो वह अन्तर आत्माका घातक नही है। दूसरो के धन अन्नका समागम जुटानेमें भी उनका सच्चा हित नही है। हा योग्य साधनमें अधिक सक्लेशन न रहे उतना हित है किन्तु राग हो जाय तो वह अहित है।

ता० १८–७–५६

जीवकी अनेक पर्यायें दु खपूर्ण आखो के सामने भी दिखती हैं इनसे शिक्षा लो यदि विवेक न धारण किया तो ऐसे ही दु खपूर्ण अवस्थायें मिलेंगी क्योकि निमित्तनैमित्तिक भाव भी एक अटल व्यवस्था है परन्तु दुखी और निराश होने की कोई बात नही कारण कि तुम अपने इस निमित्तिनैमित्तिक-भावके क्लेश को स्वाधीन होकर सुगमतया नष्ट कर सकते हो। निमित्त या नैमित्तिक भावपर लक्ष्य रखोगे तो निमित्तनैमित्तिकको परम्परा होती जावेगी। किसी भी पर या निमित्त परभाव या नैमित्तिकपर दृष्टि न दोगे मात्र अविकारी निजस्वभावका आश्रय लोगे तब निमित्तनैमित्तिक का क्लेश या

सतान मिट जावेगा।

निमित्तनैमित्तिक नहीं है सो ऐसी बात नही है, वे है तो सब किन्तु क्लेशके निमित्त है सो क्लेश चाहता हो तो उन्हे गले लगावो, आनन्द चाहता हो तो उनका उपयोग छोडो।

देखो भाई तुम्हे जो ये सब दिखते है इनमें तो तुम पक्का यही निर्णय रखो कि ये समागत पदार्थ कुछ निमित्त नही होते है तुम्हारी कषाय होती है तो उससमय जो भी तुम जानते हो उसे तुम कषायपूर्तिमें निमित्त बना डालते हो। क्योकि ये पदार्थ निमित्त होते तो सबको एकसा वही कार्य करवाते किन्तु देखा जाता है कि उसी पदार्थ को देखकर किसी को वैराग्य होता है तो किसीको मोह होता है आदि। अब रही कर्मकी बात सो उसमें भी कमसे कम यह तो है ही कि उसकी ओर या नैमित्तिक भावकी रुचि न करो उसके मात्र ज्ञाता रहो तो वह भी टिक नहीं सकता न क्लेश कर सकता, आगे और भी विचारना।

ता० १९-७-५६

वेद केवल ज्ञानका नाम है विद् ज्ञाने धातुसे वेद शब्द बना है जो स्वय परिपूर्ण ज्ञान है वही वेद है। वेद स्वय अर्थ नही कहता है, वेद स्वय शास्त्र नही है, किन्तु वेद जिनके प्रकट हुआ है ऐसे परमात्माके जब तक देह रहता है तो तब यथावसर उस देहके सर्व ओर श्रुति निकलती है वह श्रुति भी सहज एकरूपसी है वह भी विभिन्न अर्थ नही बताती मात्र श्रोतावोके श्रोत्रका पहिले निरक्षरी रूपसे विषय होता है श्रोतमें पडते ही वह साक्षरीकारूप रख लेती है। श्रोता भी सब प्रभु है कारण परमात्मा है उनकी जितनी योग्यता प्रकट हुई है उसके अनुकूल उनमें ज्ञानविकास का अपूर्व प्रकट होता है और ज्ञानविकास भी। वह ज्ञान विकास जिस अन्तर्जल्पके साथ प्रकट हुआ उन उन अक्षरो रूप परिणमानेकी विशिष्ट निमित्त वह श्रुति है। श्रोतावोमें सर्व प्रधान गणेशगणधरा है। वे गणेश देव अपने अन्तरग में स्मृतिकी रचना करते है। यद्यपि स्मृतिकी रचना सभी श्रोता करते है तथापि सर्वविशिष्ट स्मृति गणेश देव की होती है। गणेश जी अपने भावमें समस्त स्मृति याने

द्वादश अग और अगवाह्य समस्त भावश्रुत की रचना कर लेते है पश्चात् इन सब स्मृतियोको महर्षियो एव अन्य महाश्रोतावोको प्रकट करते हैं। कितने ही काल तक स्मृतियोका इसीप्रकार प्रवाह चलता रहता है, प्रवाहकी मन्द वेग होनेपर कृपालु महर्षि पुराणोकी रचना करते हैं। पुराण केवल चरित्र का नाम नही है किन्तु पुराण पुरुषो की समस्त रचनाओको पुराण कहते ह। इस तरह अवाधित वस्तु गत सिद्धान्तो का मूल वेद होने के स्याद्वादगम्य वस्तु सिद्धान्त प्रामाणिक है।

ता० २०-७-५६

आज गोविन्द बालक काछी व सुख लाल ढीमर ने मास त्याग दिया बालक होनहार भला है। इसकी सुबुद्धि बडे।

जबलपुर—लोग पृथक् पृथक् परिणतिवाले ही होते हैं।

प्रत्येक वस्तु त्रिमूर्ति है, त्रिमूर्ति देव पहिले कभी हुआ व उसका चरित्र क्या इस विषयमें नि सदेह धारणा हो नहीं सकती, वास्तविकता वह है जो वस्तु में हो। प्रत्येक वस्तुमें त्रिमूर्तिता सहज बसी हुई है। वस्तु ध्रुव है वह सदा रहती है और वह किसी न किसी हालतमें रहती है वह हालत बदल जाती है नई हालत हो जाती है परन्तु वस्तु वही है। वस्तु में यही तीन मूर्तिया है–ध्रौव्य, उत्पाद, व्यय। प्रत्येक वस्तु त्रिमूर्ति है उसका उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहज स्वभाव है। वस्तुका ध्रौव्य उसी स्वभावसे है वस्तु का उत्पाद व्यय भी वस्तुके स्वभावसे होता है क्योकि वस्तुका असत् की उत्पाद नहीं है किन्तु वस्तुके स्वभावका प्रतिसमयका परिणमन उत्पाद व्यय है। इस तरह यह सिद्ध हो गया कि मुझ वस्तुका उत्पाद व्यय ध्रौव्य मेरे स्वभावसे है अन्य सब वस्तुवोका उत्पाद व्यय ध्रौव्य उनके स्वयकेस्वभावसे है अत अन्य कोई भी वस्तु मेरा हो ही नहीं सकता इस पृथक्त्वविज्ञानसे अहकार मम कार दूर होजाता है तब परम विश्राम प्रकट होता है जिस त्रिमूर्तिके ज्ञानके प्रसादसे समस्त क्लेश दूर होते है वह त्रिमूर्ति देवता जगतके जीवोके उपयोग मन्दिर में विराजमान रहे। ॐ त्रिमूर्तिदर्शनाय नम।

ता० २१–७–१६५८

आज एक ऐसा वातावरण जबलपुर में हो गया करीब १ वर्स से। जिससे सभी को सामाजिक कार्यो में अनुत्साह है।

आज से २० अगस्त तक याने १ माह को पकवान मिठाई का त्याग। मेरा अन्तर ऐसा कहता है कि राजा अशोक पहिले जैन था उसने जैनधर्मका एक विशाल स्तूप बनाया था जिसके ऊपर चार सिह के आकारके चहरे गनाये। महावीर स्वामी की मूर्ति निश्छाय ऊपर विराजमान करते तो किसी समय टूटने का अदेशा था अत महावीरप्रभुकी मूर्ति न बनाकर वीर प्रभुके चिन्ह शेर का आकार बनाया। समवशरण में प्रभुका ऐसा अतिशय है कि चारो ओर प्राणियोको उनका मुख दीखता है। सभा भी वीर प्रभुके घेर फेर गोलाकार भरी रहती थी। चिन्हके नीचे २४ आरावाला चक्र वना है जिसका उद्देश्य चौबीसवें तीर्थंकर का तीर्थ सकेतित करना है। अशोक किसी समय बौद्ध साधुवोकी दु खित जनसेवा देखकर बौद्ध हो गया था। इतिहासकारोको इस ओर ध्यान देकर यथार्थ निर्णय करना चाहिये।

ता० २२–७–१६५६

आज जबलपुर समाजने गुरुपूर्णिमाका प्रयोगसे स्मरण करा दिया। मुझपर श्रीमद्गणेश वर्णी पादो का अनुपम छाया हे।

परमपद्व पाच हैं १ तो वह पद है जहा बाह्यवस्तुवोमें चित्त नहीं जमता फलस्वरूप सब आरम्भ, परिगृह का त्याग होना गात्रमात्र रहकर स्वसद्ध्यान में लीन रहते हैं व उसका यत्न करते हैं। २–जब कुछेक साधु होते हैं तो यह प्राकृतिक बात है कि उनमें एक प्रमुख होता हे जो कि सर्व प्रकार सुयोग्य हो सब उसे प्रमुख मानते हैं। ३–तथा यह भी प्राकृतिक बात है कि बहुतो में कुछ अनेक ऐसे भी होते हैं जो विशिष्ट ज्ञानी होते हैं उनसे दूसदो की शिक्षा का उपकार होता है। ४–उक्त तीनो प्रकारके साधुवोमें जो कोई निर्विकल्प परम समाधि में विशिष्ट जीव हो जाता है वह पूर्ण निर्दोष वीतराग सर्वज्ञ परम आत्मा हो जाता है। ५–ये सदेह वीतराग परमात्मा ही अल्पकाल पश्चात् विदेह (देहरहित) हो जाते हैं ये पाचो उपास्य आत्मा

त्रिमूर्ति हूं। सब त्रिमूर्ति हैं। सच्चा श्रद्धान, सच्चा ज्ञान व सच्ची स्वरूपा चरण याने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीन मूर्तियो स्वरूप हैं। ये पाचो त्रिमूर्ति परमाराध्य हैं। सामान्यतया सभी आत्मा त्रिमूर्ति हैं। श्रद्धान ज्ञान आचरण सभीके होता है इतना अन्तर है कि किसीके मिथ्या होता और किसीके सम्यक् होता। सामान्यदृष्टि से देखें तो सहजश्रद्धा, सहजज्ञान, सहजचरित्र इन तीन मूर्तियोके अभेद पिण्ड सभी आत्मा हैं विशेषदृष्टि से देखें तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीन मूर्तियोसे अभेद स्वरूप पाच विशिष्ट आत्मा हैं। ॐ त्रिमूर्तये नम।

ता० २३–७–१९५६

आजसे जीवस्थान चर्चा का अध्ययन लोगोने व महिलाओने प्रारम्भ किया। अध्येता आत्म विद्यार्थियो समस्त सख्या ३५ हुई।

धर्मको निश्चय व व्यवहार को सधिकरके देखो और इसे २ भागो में समझो। १ साधारण धर्म, २ आत्मधर्म।

१–वत्थुसहावो धम्मो है वस्तुका जो स्वभाव है वह वस्तु का धर्म है वस्तुका स्वभाव उत्पादव्यय ध्रौव्यका है वस्तु इन तीन रूपोमें गुम्फित हैं वस्तुमें सदा तीनो बातें पाई जाती हैं। आजकल का भारतीय राष्ट्रध्वज इन तीनो का प्रतीक बन रहा है। राष्ट्रध्वजमें तीन रूप हैं—हरा लाला (पीला) सफेद। हरा उत्पादका लाल व्ययका सकेत करता है साहित्य उत्पत्तिहर्ष वृद्धि को हरे रगसे और नाश को लालरगसे वर्णन करता है। सफेद रूप ध्रौव्यका सूचक है जिसपर उत्पाद व्यय–हरे लालरूप चढ सकते हैं। ॐ त्रिरूपाय सर्वधर्मध्वजाय नम।

२–सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि धर्म है आत्माका सम्यग् विश्वास ज्ञान आचरण धर्म है शान्ति देनेवाला है मोक्षका मार्ग है। भारतीय ध्वज इसका भी सकेत करता है—सम्यग्दर्शन शुद्धात्मा की रुचि को कहते हैं रुचिका वर्णन साहित्यमें पीले रग न है शुद्धात्माके ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं ज्ञानका वर्णन सफेद रग से होता है। शुद्धात्माके अनुष्ठानको सम्यक्चारित्र कहते हैं इससे आत्माकी अपूर्व उन्नति है इसका वर्णन हरे रगसे है। देखो सफेद बीच

में है जैसे ध्रौव्य बीचमें है वैसे ज्ञान बीच में है। ॐ निरूपायात्मधर्मध्वजाय नम ।

ता० २४-७-१९५६

मरण २ प्रकारके है—१-आवीचिमरण. २-तद्भवमरण। तद्भवमरण तो उसभवसे आत्माके निकलजाने को कहते है उसभव की आयुके निषेकोके पूर्णतया खिर जानेको कहते हैं। आवीचिमरण प्रतिसमय आयुके निषेक जो खिर रहे हैं (जिससे जो भवका समय गया वह पुन. नहीं आता वह तो निकल ही गया) उस प्रति समयके भववाले मरण को कहते हैं। हमारा आवीचिमरण प्रतिसमय हो रहा है। मरण समयमें समाधि होनेसे याने समाधिमरण होनेसे आत्मा का हित है सो अपना हित चाहो तो प्रतिसमय मरतो रहे हो। समाधिमरण से मरते रहो अर्थात् प्रतिसमय समाधि रहना चाहिये।

यदि आवीचिमरणका मरण समाधिमरण बन जावे तो उस समाधि-मरण के फलकी प्रतीक्षा नहीं करनी है उसका फल उसी समय मिलता जा रहा है। सर्व आपदाओ से रहित अनुपम आनन्दका अनुभवन होता चला जा रहा हैं।

प्रतिसमय का मरण हो रहा है इसे कभी न भूलो जो क्षण गये वह फिर नहीं आयेंगे। इसका सोच नही कि क्षण गये भिर न आवेंगे। यदि कल्याण तो हो न पावे और मनका वियोग हो जावे तो उसका हाल व सोच है कि फिर शाश्वत समाधिका आरम्भ भी न हो सकेगा। अत अभी श्रेष्ठ मन मिला है, मनके सदुपयोग से मनका उपयोग बद करसे न संज्ञी न असंज्ञी जैसे परम अनुभव अमृतका स्वाद लेलो और अनुपम अमर हो जावो।

ता० २५-७-१९५६

आज मुनि श्री आदिसागर जी भी आगये। आपका भाव अध्ययनकी ओर भी विशेष है।

अपने पुराण पुरुषो को तो देखो उन्होने विषय कषायसे दूर होकर विशुद्ध आत्मध्यानमें ही आनन्द माना था व इसी प्रकार का यत्न किया था।

यद्यपि उनका शरीर मजबूत था लेकित शरीरका काम करनेको बात तो नहीं कह रहे हैं बात तो ज्ञानकी न मनकी हो रही है सो ज्ञान व मन की दृष्टिसे तुम कमजोर नहीं हो इसकी बात तो तुम इस युगके पुराण पुरषोकी तरह ही कर सकते हो। विषय कषायको अत्यन्त हेय विषफल जानकर इससे दूर होनेके लिये कटिबद्ध हो जावो।

समस्त इन्द्रियोका व्यापार बन्द करके अन्तर अन्तरमें परम विश्राम पावो। तुम्हे प्रभुके दर्शन होगे दर्शन ही नहीं ज्ञान द्वारा स्पर्श भी होगे स्पर्श ही नहीं ज्ञानद्वारा परम सहज आनन्द का स्वाद भी मिलेगा। सर्व आनन्द पूर्ण आनन्द आत्म स्थिरतामें है। हे निज सहज सिद्ध प्रभो जयवत हो तुम अभी अभी प्रकट हुए हो सी बालरूप हो हमारे उपयोगके झूलेमें झूलो और और प्रसन्न होकर वढते रहो।

ता० २६-७-१९५६

सहजसिद्ध प्रभु अध करण अपूर्णकरण अनिवृत्तिकरण में सातिशय मिथ्यात्व की पद्धतिसे गर्भमें आते है पश्चात् अविरलसम्यक्त्व गुण स्थानके रूपमें उनका जन्म होता है और उनको शिशु अवस्था रहती है जब तक अपने पैरसे उठ नहीं आते। पश्चात् देशविरतगुणस्थानके रूपमें उनकी बाल अवस्था चलती है। और इसी ही देशविरत गुणस्थानमे अन्तमे कुमार अवस्था हो जाती है। पश्चात् किशोर अवस्था आती है तब सर्वविरतिका पाणिग्रहण हो जाता है और इस प्रसगमें वे छटे सातवें गुणस्थानमें रहकर झुझलाहट व निर्विकल्प दोनोका आनन्द लेते रहते हैं। बारह भावनाओंके दृढ सम्पर्कसे उनका आत्म परिवार बढ जाता है। पश्चात् यौवन अवस्था आती है उन्हे शुक्ल चिन्ता होती है और यह आठवें नवें दसवें गुणस्थानके रूप बदलती हुई भी यह शुक्लचिन्ता वढती जाती है। पश्चात् इस महाप्रभु को इस कामके प्रसादसे समस्त परिवार परमब्रह्मचर्यसे एकरूप हो जाते हैं तब सहजसिद्ध प्रभु को अनुपम विश्राम प्राप्त होता है और वहा यह प्रभु क्षीणकषाय गुण- स्थानके रूपमें पूर्ण निश्क्षुब्ध निस्तरग निर्विकल्प हो जाता है। पश्चात् इस शक्तिशाली वृद्ध अवस्थामें वह सर्वज्ञ हो जाता है। उसकी यह शक्तिशाली

वृहता अजर और अमर होकर सदा एकसी बनी रहती है ॐ वृद्धाय नम ।

ता० २७-७-५६

वैराग्य परिणामो सहित निर्भय एकान्त निवास बहुत ही उत्तम वातावरण हे । अन्तमें तो एकाकी जाना ही है निरतर एकाकी अनुभव करो । किसीसे स्नेह मत बढावो । किसीको साथ रहने का विश्वास मत दो । अपना ज्ञानध्यानसयमोपयोगी व अन्य उपयोगी सामान कम से कम रखो स्वय उठाकर चल सको इतना रखो । चातुर्मास्यमें लिखने पढनेका अधिक काम व्यवस्थित करलो पश्चात् जब जैसा मिले करो । ध्यानमें समय अधिक बितावो ।

समस्तसकल्पविकल्पजालोसे रहित निस्तरग जब स्वविश्राम होता हे तब पश्चात् समझनें आता है कि उस जैसी परिस्थिति उस जैसा आनन्द अन्यत्र कही नही हे । जिन्हे ऐसा अनुभव होगया उन्हीको यह श्रद्धा है, शेष तो बासी मठाकी खीरमें ही आनन्द मानगे ।

आत्माका ध्रुव यह शुद्ध आत्मा ही हे । आत्मा उस उपयोगमें विराजमान रहता हे जिस उपयोगमें अनात्मा की गध न हो । इस परम पिता आत्माको चेतन्यद्वारसे नही, वस्तुत्वद्वारसे अनात्मासे बडी चिड है जिससे यह प्रभु चिढता हो उसीको तुम उपयोग में स्थान दो तो प्रभु तेरी ओर ढूकेंगे भी नहीं । अनात्माके उपयोगमें अनन्तकाल तो बिताया । अब अपनपर दया करके अपनेको समझो जानो मानो बनो । ॐ अकत्रे अभोक्त्रे धात्रे पित्रे हितदात्रे प्रमात्रे विश्वाधिष्ठात्रे त्रात्रे ज्ञान्त्रे अहितहर्त्रे आनन्दभत्रे नमो नम । ॐ तत् सत् ।

ता० २८-७-५६

आज मढियाक्षेत्र गये मन्दिरोके निर्माणमें लोग समझते है कि जब तक मदिर रहेगा मेरा नाम रहेगा । विद्यादान की उपेक्षा हे सम्यग्दृष्टिके जघन्यज्ञानपरिणमनके दृष्टान्त—

१—सेठका मुनीम, २—विवाहमें गीत गानेवाली पडोसिन, ३—पीहर से ससुराल (अपन घर) जानी वाली रुदन करती हुई बहू, ४—सगाईसम्बन्धका समाचार सुन लेनेवाली कन्या, ५—युद्धमें लडनेवाले सिपाही, ६—विषभक्षण

करने वाला मन्त्रवादी विषवैध, ७–औषधिमें मद्य पीनेवाला पुरुष, ८–वेश्या का प्रेम, ९–जलमें रहने वाला कमल, १०–आराममें रहनेवाला रईस रोगी, ११–कीचडमें सोना, १२–ठगके यहा पला हुआ सेठपुत्र, १३–काम करता हुआ कैदी, १४–मरेके फेरे में जाने वाली महिलायें, १५–इस्टवियोगके दु खीका भोजन आदि, १६–आक्रामकका पहिचाननेवाला सिह, १७–दूसरे साझेदारका कपट जाननेवाला साझेदार, १८–सन्धयाकी लाली, १९–जडकटेवृक्षका हरापन २०–भ्रमसे एक नदी वहा समझकर सिर फोडनेवाले फिर सही ज्ञान करनेवाले दश कोली, २१–बादमें नौकर द्वारा पकडे गये चोर द्वारा लूटा पिटा सेठ, २२–रात्रि उन्मार्गमें भूला किन्तु क्षणिक विद्युतप्रकाशमें सुमार्ग देख लेनेवाला पथिक, २३–छतपर जानेके लिये सीडी पर चढनेवाला मनुष्य, २४–हजार रुपया के दण्डसे बचनेकेलिये १००) दे देनेवाला पुरुष, २५–नाटकमें राजा भिकारी के पार्ट करनेवाला मनुष्य।

ता० २९–७–५६

सम्यग्दृर्शनका दर्शन—

१. जीवादि तत्त्वोका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

२ विपरीत अभिप्रायरहित जीवादि तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

३ जीवादि पदार्थोके यथार्थ श्रद्धान स्वरूपमें आत्मा परिणाम जाना सम्यग्दर्शन है।

४. भूतार्थसे जाने गये जीवादि पदार्थ सम्यग्दर्शन है।

५ जीवादिपदार्थोके भूतार्थसे जाननेपर जो एकताका अनुभव हे सो सम्यग्दर्शन है।

६. भूतार्थसे जाने गये पदार्थोसे शुद्धात्माके भिन्नपनेका अवलोकन सम्यग्दर्शन है।

७. विकारकी उपेक्षा करके केवल स्व स्व अभेदकी मुख्यता से नव तत्त्वोका प्रतिभास सम्यग्दर्शन है।

८ ज्ञानचेतनाका अनुभूमि सम्यग्दर्शन है।

९. ज्ञेय ज्ञातृत्वकी यथार्थ प्रतीति सम्यग्दर्शन हे।

१० आत्मस्वरूपकी उपलब्धि सम्यग्दर्शन है ।

११ शुद्धात्मा का अनुभव सम्यग्दर्शन है ।

१२ शुद्धात्माकी रुचि सम्यग्दर्शन है ।

१३ देव शास्त्र गुरूका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ।

१४ आत्माका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ।

१५ श्रद्धानकी जिस परिणतिके प्रगट होने से निज शुद्ध आत्मा का प्रतिभास हो वह सम्यग्दर्शन है ।

१६ पूर्ण आत्मस्वरूपका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ।

ता० ३०–७–५६

१७ निमित्त, विकारीपर्याय, अपूर्णपर्याय, गुणभेदके लक्ष्यसे हटकर निज अभेद अनुभव होना सम्यग्दर्शन है ।

१८ चैतन्यमात्र आत्माकी प्रतीति सम्यग्दर्शन है ।

१९ स्वरूपकी यथार्थ प्रतीति सम्यग्दर्शन है ।

२० स्वरूपका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ।

२१ परसे भिन्न निज आत्मामें रुचि सम्यग्दर्शन है ।

२२ विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावरूप निज परमात्मा की रुचि सम्यग्दर्शन है ।

२३ शुद्ध जीवास्ति कायकी रुचि सम्यग्दर्शन है ।

२४ भगवान परमात्मस्वभावके अतीन्द्रियसुखकी रुचि करनेवाले जीवमें शुद्ध अन्तरग आत्मिक तत्त्वके आनन्द के उत्पन्न होनेका धाम जो शुद्ध जीवास्तिकाय है उसकी दृढ प्रतीति सम्यग्दर्शन है ।

२५. अनतानुबधी क्रोध मानमाया लोभ मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व सम्यकप्रति इन सातके उपशम, क्षयता क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई निर्मलता सम्यग्दर्शन है (उपशमसम्यक्त्व आदि की ५ प्रकतियोके उपशमसे भी हो सकता है जव की अन्त की २ प्रकृति सत्तामें न हो) ।

इत्यादि अनेक प्रकार से सम्यग्दर्शन का लक्षण है, सम्यग्दर्शनका स्वरूप तो एक है किन्तु अपेक्षा से है इनमें यह देखना कि कोई ज्ञानकी मुख्यतासे, कोई दर्शन की मुख्यतासे, कोई चारित्र की मुख्यतासे कोई आश्रय-

की मुख्यतासे तो कोई उपाधिके वियोगकी मुख्यतासे लक्षण कहा गया है ।

ता० ३१-७-५६

स्वाधीनतामें परीषहे आयें उन्हे जीतना और स्वाधीनता बनाये रहना हितका वातावरण है। आराममे रहना पराधीन विश्राम पाना आत्मीय निर्मलताका निमित्त नहीं है। स्वाधीनताके लिये कमसे कम इन बातो पर लक्ष्य अवश्य हो—१ कम से कम परिग्रह जो स्वयं लेजाया जासके। २ कम से कम वस्त्र जिसका सुगमतया धोना रखना बन सके। ३ लिखने वा प्रतिदिन के पाठ का कुछ साधन पास रहे। ४ विशेष ग्रन्थ जहा जो मिल सकें उनका उपयोग करना व उपयोग हो चुकने पर या वहा से प्रयाण करने पर उन ग्रन्थो को वहीं दे देना। ५—नगरमें भोजन भाषण चैत्यवदन आदि कार्यवश जावे रहे, शेष समय नगर के पास वन उपवन आदि विविक्त स्थानो पर रहना यदि रात्रिनिवासकी व्यवस्था वन उपवन में उचित न जचे तो ग्राम नगरके किसी उचित स्थान में आजाना रात्रि व्यतीतकर पूर्वोक्त व्यवस्थासे चलना। पूर्ण स्वाधीनता तो निर्ग्रन्थ दिगम्बर ही कर सकता है।

आत्मन् तेरा जगतमें कोई शरण नही है, तेरा उत्थान अनुत्थान सुख दुख साता असाता सब तेरे स्वके आधीन है, पराधीनताका भी अनुभव स्ववशसे करता है। परका तेरेसे कुछ सबध ही नही है न था न होगा, मात्र तू विपरीत-मान्यता रखता है जिसका सारा विसवाद है ।

ता० १-८-५६

तुझे मन मिला है तो मनको इस चिन्तनामें लगावो मैं चैतन्यमात्र हू सर्व पर मुझसे अत्यन्त भिन्न है ये सर्व पर मेरे कुछ भी नहीं है उनका चतुष्टय उनही में है। परमाणुमात्र भी परमाणुमात्र मेरा नही है। अरे ओ हो अब किसे मनमें रखें। कुछ अन्य मनमें रखने लायक तो है नहीं। यह मन और कुछ नही, ज्ञानका एक प्रकार है। द्रव्य मनकी चर्चा नहीं कर रहे वह तो जड है उसे समझाना क्या ?। हे मन तू जिस ज्ञानका प्रकार है उस अपने परमपिता को अपने में रख। क्या तू यह सुनकर तो नही घबडाता कि परमपिताके परमप्रसाद में मनका नाश हो जाता है। तू इस ढग से देख

मनका नाश नही होता किन्तु इतना श्रेष्ठ मन होजाता है कि फिर सकल्प विकल्पका दुःख नही रहता। सकल्प विकल्पकी गडबड बनी रहे इतना ही जिन्होने मन माना है वसा मन तो जरूर मिट जावेगा। किन्तु तू मनको वह मन क्यो जानता। ज्ञान मन ज्ञानका एक प्रकार है यह कुछ रद्दी प्रकार है यदि ज्ञान का उत्कृष्ट प्रकार सर्वज्ञता आती है तो उसमें उत्कर्ष मान। नही समझमें आता तो बस एक यह बात मान—मन को तू ज्ञान समझ। अथवा हे मन दुःखोके अनुभव से तो नाश ही अच्छा—सो नाशका प्रयत्नकर अर्थात् परमपिता कारणपरमात्मा को तू अपनेमें रख लोक में कहते है जब चीटाकी मौत होनेको होती है, तो उसके पख उग आते हैं। सो जब मनका नाश होनेको होता है तब आत्मा अनात्मा का विवेक होजाता है।

ता० २–८–५६

यद्यपि यह सत्य हे कि जो जन्मता है वह मरता हे और जो मरता है वह जन्मता है तथा कोई किसीका जन्म नही करता और न कोई किसीके मरणको करता तथापि ऐसी प्रतीतिवाला विकल्पोसे परे होजाता है न कि इस बोध के कारण किसीको मारने व दुःख देने में अथवा विषयसाधनोके सग्रहणमें जुटता। यदि कोई इस बोधको देने व मानने पूर्वक युद्ध करता हे मारता हे तो वह तत्त्वकी ओरमें स्वच्छदता है।

सामान्यका व्याख्याता द्रव्यार्थिकनय हे, विशेषका व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है। द्रव्यार्थिकनयके ३भेद हे—नैगम, सग्रह, व्यवहार। जब अभेदमें भेद व भेदमें अभेदका आरोप करके एक विषय बनाया जाता है वह नैगम नय हे। मात्र अभेदका विषय करनेवाला सग्रह नय है। उत्तरप्रभेदोकी अपेक्षा अभेदको स्पर्शता हुआ भेदका विषय करनेवाला व्यवहारनय हे।

किये हुए निक्षेपके अनुसार जो अर्थ को लेजावे उसे नय कहते हैं। नयसीति नय।

नय प्राण है तो प्रमाण जीवन है। नय मत्री है तो प्रमाण राजा है। प्राणोसे जीवन है तो नयो से प्रमाण हे। मन्त्रियोकी अनेकसम्मतियोसे निश्चित सम्मत एक राजा हे तो नयोकी अनेक दृष्टियोसे निर्दिष्ट ज्ञाता एक प्रमाण हे।

प्राण अनेक हैं जीवन एक है। नय अनेक हैं प्रमाण एक है।

ता० ३-८-५६

समानमें होनेवाले ग्रहण को अथवा समानके ग्रहण को सामान्य ग्रहण कहते हैं यही दर्शन है। जितने पदार्थों के ज्ञान हैं उतने ही ज्ञानके क्षयोपशम हैं तो पदार्थज्ञान के समान क्षयोपशम हुए। जितना क्षयोपशमजज्ञान है उतना आत्मा है क्योंकि आत्मा ज्ञानमात्र है। तब क्षयोपशमप्रमाण आत्मा हुआ। इस तरह पदार्थ ज्ञान के समान (बराबर) क्षयोपशम हुआ। क्षयोपशम के समान (बराबर) आत्मा हुआ। इस तरह समान मायने आत्मा है उस समान आत्मा के ग्रहण को दर्शन कहते हैं जिसका स्पष्ट भाव है—अन्तर्मुख चित्प्रकाश-को दर्शन कहते हैं। उक्त पद्धति युक्त भी है। अथवा पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है उसके केवल सामान्य अंशका यदि ज्ञान किया जावे तो वह ज्ञान किया जायेगा। सामान्य किसी वस्तु का जाना जा रहा है यह विशेष-भाव नहीं रहता। सामान्य सत्ता का बोध किसीवस्तुका रूपक बनाकर नहीं होता अन्यथा वह अवान्तरसत्ता हो ही जावेगी। इस पद्धतिसे देखनेपर सामान्य सत्ता का आधार द्रष्टा ही रह जाता है यहां भी द्रष्टाकी सत्ता यह विशेष न लेना अन्यथा वह सामान्य सत्ता नहीं रहेगी। इस तरह द्रष्टाका प्रतिभास सामान्य प्रतिभास हुआ। इससे भी यही प्रसिद्ध हुआ—अन्तर्मुख चित्प्रकाशको दर्शन कहते हैं।

ता० ४-८-५६

जबलपुर वर्षायोगमें बाहरसे पधारे हुए संयमी एवं ब्रह्मचारी—

१—मुनि श्री आदिसागरजी, २—क्षुल्लिका श्री सन्मतीजी, ३—ब्र० लाभानन्दजी, ४—ब्र० विवेकानन्दजी, ५—ब्र० राजधर वाणीजी, ६—ब्र० छोटेलालजी, ७—ब्र० सुफलाल जी, ८—ब्र० जयानन्द जी, ९—ब्र० करोडीमलजी, १०—ब्र० नाथूराम जी, ११—ब्रह्मचारिणी बाई जी, १२—ब्र० दामोदर प्रसादजी खापखोल, १३—ब्र० गुणभद्र, १४—ब्र० बालचन्दजी, १५—ब्र० चुन्नीलाल जी। इन सब व्रतियोंके समागमसे आनन्द रहा।

शरीर तो जड है, आत्मा चेतन है, यह मनुष्य असमानजातीय द्रव्य-

पर्याय है। शरीरको क्लेश नही होता, आत्माका क्लेश स्वभाव ही नही, असमानजातीय द्रव्यपर्याय अध्रुव है–माया है। दु ख का मूल कुछ नही है, इन तीनो में से कोई ईमानदारीसे दु खी नहीं है। इनविषयक भ्रम दु.खका मूल है। सब कुछ भ्रमजाल होने पर भी दु खका टिपारा आत्माके शिर पडता है अत भ्रमको दूर भगा दिया जावे तो यह सारा इन्द्रजाल भी समाप्त हो जावेगा।

द्रव्य जाना जावे और वह अपने ही गुण पर्यायमें एकत्वसे परिणत है इस प्रकारकी स्वतत्रतासे देखा जावे वहा आकुलता को स्थान नहीं मिलता।

ता० ७–८–५६

आनन्द का मार्ग केवल स्वाश्रय है। स्व से हटकर बाह्यमें उपयोग लगाया तब विकल्प हुए और उनही में तो आकुलता भरी है। विकल्प टूटे बिना शान्ति न होगी।

आत्मामें ज्ञानकी कला है और वह ज्ञानकला ऐसी है कि उसका स्वभाव पदार्थोको जाननेका है और भूत, भविष्यत्, वर्तमानकी पर्याय को जाननेका है। इसका प्रमाण तो यह है–कि अभी देखलो आपमें भी कुछ भूत व कुछ भविष्य को जानने की पद्धति है ना। भविष्यकी बात चाहे गलत निकल जावे। अभी हम आपकी जानी हुई किन्तु यह तो सिद्ध ही है ना कि जाना करते है भूत और भविष्यकी बात।

अब देखो—हमारे ज्ञान पर आवरण है अर्थात् ज्ञानावरणके क्षयोपशमको लिये हुए उदयको व उदयको निमित्त पाकर ज्ञानका योग्य विकास नही है तो भी यह सब जाना जा रहा है तब जिस प्रभुके ज्ञानावरणका विनाश हो चुका उसके तो यह ज्ञान पूर्वविकासको प्राप्त हो जावेगा। ऐसे सर्वज्ञ प्रभु के ज्ञानमें सब झलक चुका। अब जो होना है वह वे जान ही गये। याने जो देखा है वह होगा ही, विकल्प क्यो करना।

ता० ८–८–५६

अक्रिय परिणमात्मा, चित्स्वभावस्त्रिदैवत ।
अगदोऽस्खलितैकत्वोऽ–परिणामी कलानिधि ॥५०॥ ३५९

अवेदो वेदवेद्यश्च, वेदो वेदमयो विधि ।
अकषायस्तटस्थश्च, वामस्त्रिभुवनेश्वर ॥५१॥ ३६८

अजीवज्जीवितोऽचिह्नोऽ–गम्यो गन्ता स्थिर ऋतु ।
अनन्यकर्तृकर्मा स्व–ज्ञेयनिष्ठो महोदय ॥५२॥ ३७८

अनादिनिधनो ज्ञाता–ऽग्राह्योऽशोको निजाश्रित ।
अनन्त परम प्राणो, वर्द्धमानोऽचलद्युति ॥५३॥ ३८७
अमित सिद्धिद सत्य, शरण्यो निरुपद्रव ।
अग्रजोऽनुपम पाता, पावनो निरुपप्लव ॥५४॥ ३९३
अकलङ्को जगन्नाथो, गुप्त स्पष्टश्च पुष्टिद ।
अक्षोभो विश्वशीर्षश्च, शक्तो नेता च सुश्रुत ॥५५॥ ४०३

इति अनन्तादिशतम् ॥४॥

ॐ ह्रीं अनन्तादिशतनामवाच्याय सहजसिद्धपरमदेवाय नम

शुद्ध शुद्धात्मतत्त्व च, शुद्धजीवपदार्थक ।
शुद्धात्मद्रव्यमापूर्ण, शुद्धजीवपदार्थक ॥५६॥ ४०८
शुद्धबुद्धैकभावोनन्तज्ञानादिस्वभामय ।
शुद्धात्मा परमो विष्णु परम ब्रह्म निस्तमा ॥५७॥ ४१४
शुद्धान्तस्तत्त्वसद्धारो, निश्चयो धर्मरूपक ।
शुभाशुभगत कर्म–चक्रमुक्त समप्रभ ॥५८॥ ४२०
शुभाशुभपरो लोको–द्योतमूलमनायक ।
शुद्धाभोऽनुप्रभोलोका–तीत सिद्धेश्वर सम ॥५९॥ ४२८
टङ्कोत्कीर्णसम सिद्धोऽमूर्त सत्य पर शुचि ।
अविशिष्टो विश्वसारो, विश्वयोनिर्गुणात्मक ॥६०॥ ४३८
दर्शनमय अपूर्णो, निजकार्यसुकारणम् ।
हानोपादानशून्यश्च, शैवसाधनमूलक ॥६१॥ ४४२
सर्वशुद्धात्मभावश्चा–नादिमुक्तो निरामय ।
स्वयम्भूष्णु पर ज्योति–र्भगवान् विरजा प्रभु ॥६२॥ ४५०

६ अगस्त १९५६

श्रीशोऽभयो निरशश्च, विश्ववन्द्यो बुधार्चित ।
स्वविलासो विसङ्गश्च, जगदाराध्य ईशिता ॥६३॥ ४५८
स्वप्रतिष्ठ प्रकाशात्मा, शिवद शान्तिद· स्वराट् ।
श्रेयोनिधिश्च कल्याण–मूर्तिरनघो मुनीश्वर ॥६४॥ ४६७
सर्वलोकातिग सर्व–लोकस्थ क्षेमकृज्जय ।
श्रीनिवासोऽप्रतीघात , स्वाधिष्ठाता सुखावह· ॥६५॥
भावकर्मविनिर्मुक्तो, द्रव्यकर्मविवर्जित ।
नोकर्मरहित· शुद्ध–चैतन्योऽनन्तवीर्यभाक् ॥६६॥ ४७९
विश्वावतस अ्मूर्ति–मूर्तिशून्यश्च धर्मग ।
धामेश्वरो निराबाधो, निर्लिङ्ग स्वचतुष्टय ॥६७॥ ४८७
विश्वास्य परमो विश्वा–वेद्योऽतिमहिमालय ।
स्वसर्वस्वैकभावश्चा–मृतसङ्गाऽक्षयो निधि ॥६८॥ ४९३
भ्राजिष्णुरजरोऽमर्त्यो–ऽसभूष्णुरजरोऽरजा ।
वरद परमो देवो, ज्ञानदर्शनभाक् पुमान् ॥६९॥ ५०३

इति शुद्धादिशतम् ॥५॥

ॐ ह्री शुद्धादिशतनामवाच्याय सहजसिद्धपरमदेवाय नम

धर्मो धर्माकरो धर्मी, धर्मात्मा धर्मनायक· ।
धर्मेश्वरश्च धर्मश्री–र्धर्ममूर्ति स्वधर्मभाक् ॥७०॥ ५१२
नि सपत्नस्वभावश्च, नानापर्यायनिष्ठित ।
नियतस्वप्रदेशश्च, पराशिष्यो निजोन्मुख· ॥७१॥ ५१७
संसारसिन्धुपोतश्च, लोकमात्रप्रमाणित ।
अतद्भिन्न उदाराध्यो–ऽक पराप्रतिपादक ॥७२॥ ५२३
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तो, निर्मुक्तोऽभवकारण ।
निरुपाधिमहानन्द , सच्चिदानन्दमूर्तिक ॥७३॥ ५२८
त्रैकालिक स्वयम्भूश्च, ज्ञानपुञ्जो निरावृत ।
शान्तिस्रोतो जगत्त्राता, दुर्गो दीप्तश्च केवल ॥७४॥ ५३७

१० अगस्त १९५६

धर्मशस्त्रिजगद्बन्धुः, सार्वो भावो गुणो गुणी ।
आनन्दमय ईशानोऽनन्ततेजोमयोऽच्युत. ॥७५॥ ५४७
सुधामा स्वकुलोऽमोहो–ऽतृष्णोऽकोपोऽमृतोऽसम. ।
निष्कर्माऽशङ्क इज्यार्हो–ऽरात्रोऽद्वेषोऽछलोऽमदः ॥७६॥ ५६१
धीरो वीर. सर सारो–ऽमलोऽदोषश्च भूतभृत् ।
नयातिक्रान्त इष्टेश., कल्पवृक्षो वरप्रद. ॥७७॥ ५७२
कामधेनुर्महाशीलो, ज्ञानग्राह्यश्च निष्क्रिय ।
सिद्धधर्मा, स्वयंसिद्धो, महेज्यो विश्वतोमुखः ॥७८॥ ५८०
स्वगुणैकप्रमाणो नि–श्चयसद्दर्शनाश्रय ।
निजषट्कारकोन्मग्नो, ज्ञानिव्यक्त उदाश्रयः ॥७९॥ ५८५
यदौन्मुख्यसमानन्दो, भव्याराध्यो विनामक' ।
लीलानिधि' परो बन्धु', पर मित्र पर तप' ॥८०॥ ५९२
कूटस्थ पञ्चमो भावो–ऽमूल सन्तानशासक. ।
ससारतरणोपाय., स्वरूपस्थितिकारणम् ॥८१॥ ५९८
अनीश्वरो महेशश्च, समाराधित आप्रभ ।
ज्ञानित्ववेदनाशीलो–ऽवध्यबोधवपु. शमी ॥८२॥ ६०५

इति धर्मादिशतम् ॥६॥

ॐ ह्लीं धर्मादिशतनामवाच्याय सहजसिद्धपरमदेवाय नमः

राम. समञ्जसज्ञानी, द्विपादश्च स्वयम्प्रभु' ।
पर शिवमय. सूक्ष्मो भवदाहहरो हर. ॥८३॥ ६१३
परिणामभवो द्रष्टा, परिणामयुतो विभु' ।
परिणायगतो ज्ञाता, परिणामरहो विधि. ॥८४॥ ६२१
मह्योऽमेयो महामन्त्री, महाधर्मो महामहा. ।
महा महान्महाधामा, महावीर्यो महाबल ॥८५॥ ६३१
मुद्रातीतो महाबुद्ध, स्वसवित्तिमयोऽचल ।
मन्त्रमूर्तिरलक्ष्यात्मा, सुगमो मङ्गलोदय ॥८६॥ ६३९

महदानो महानन्दो, महाज्ञानो महागुण ।
महार्ह सहजज्योति–रक्षोभ्योऽचिन्त्यवैभव ॥८७॥ ६४७

११ अगस्त १९५६

पुरुषार्थमयो वर्य–स्त्रिगुण परमेश्वरः ।
प्रजापतिर्नयातीतो, दृशिज्ञप्तिचरित्रयुक् ॥८८॥ ६५४
असद्विकल्पसकल्प, शुद्धरत्नत्रयाश्रय ।
प्राप्यमाणस्वभावोऽवा–ग्गोचरः सवरात्मक ॥८९॥ ६५९
स्वदीयमानभावत्वो, भावोद्भवनसाधक ।
उपायोपेयभावात्मा, भावाधार अनानन ॥९०॥ ६६४
भावान्तरच्छिदस्वप्नोऽकृतको व्यापकोऽधिप. ।
पूर्णज्ञानघन सिद्ध–प्रतिच्छन्द स्वभावभुक् ॥९१॥ ६७२
पुण्डरीक. प्रधानश्च पिता पाता पति प्रिय ।
प्रेयान् परिवृढ पूत· पारकृच्च पर रह ॥९२॥ ६८३
अमोघ प्रथितो देव, शेमुषीशश्च शकर ।
प्रमाता विक्रमी वर्य, स्ववर परमेश्वर ॥९३॥ ६९३
प्रकृति प्रणवोऽनिन्द्य·, प्रमाण भवतारक ।
कर्मग· कारण कर्ता, महेन्द्रमहितो मुनि ॥९४॥ ७०३
सुवृत्तसहजावस्थो, मौनमानमन·स्थित. ।
व्रताव्रतविनिर्मुक्तो, भावाभावविवन्धन. ॥९५॥ ७०७

इति रामादिशतम् ॥७॥

ॐ ह्रीं रामादिशतनामवाच्याय सहजसिद्धपरमदेवाय नम·

महेशो विभवो भास्वान्, वृषेशोऽजितशासन ।
श्रेयोमयो विदेहश्च, वीरो धीर सनातन ॥९६॥ ७१७
ज्ञानी ज्ञानमयो ज्ञानं, धर्म्य. कल्याणनायक ।
गुणमूर्तिरनन्तौजा, नित्योद्योतश्च दर्शक· ॥९७॥ ७२६
चैतन्यवपुराधारो, निर्मल सुगन सुहृत् ।
मूलकर्ता स्वयकर्मा, स्वाधारो मूलकारणम् ॥९८॥ ७३४

७४२

ज्ञानात्मा निराबाधो, निष्कलश्चाचलस्थिति ।
भूतनाथो विविक्तात्मा, विश्वसृड्विश्वनायक. ॥६६॥

१२ अगस्त १९५६

द्रव्यका एक समयमें एक परिणमन है, जब द्रव्य जिन योग्यताओंवाला होता है उनमेंसे किसीरूप परिणमजाता है। वह किसरूप परिणम जावे यह योग्य निमित्तको पाकर होता है सो उन योग्यतावोंमें कलहका अवसर नहीं आता।

ऐसा होनेपर भी यह विशेषता अपादानको है निमित्तकी नहीं। निमित्तभूत द्रव्य तो २ खुद अपनेमें अपने चतुष्टय से परिणम रहा है वह अन्यमें कुछ असर नहीं करता। परिणमान उपादान स्वयं अपना असर प्रकट कर लेता।

द्रव्य सत्। जो सत् है, वह अनादिसे है व अनन्तकाल तक रहेगा। प्रतिसमय सत् एक एक अवस्था याने पर्याय में रहता है। सो द्रव्यकी अनादि निधनता के प्रकट ज्ञानके अर्थ यह परिचय होता है कि तीनकालोकी पर्यायोका समूह द्रव्य है। जो द्रव्य है व अनिर्वचनीय है।

द्रव्य एक सत् है और वह प्रतिसमय एक पर्यायरूप है। द्रव्यमें भूत भविष्य की सब पर्यायें रहती हैं ऐसी बात नहीं। किन्तु यह बात है कि द्रव्यमें भूत भविष्य की परिणति होनेकी शक्ति है सो शक्तिमें यह निश्चित नहीं होता कि इस पर्याय के बाद यही पर्याय हो। होता यद्यपि ऐसा ही है कि जब जो होना उसी क्रम से होना। किन्तु जो साइन्सपूर्वक हुआ व होगा उसको अभी ज्ञानमें लेलिया इस ओरसे देखो—जिस क्रम से जो होना वह होता ही है इस विषयकी पद्धति ठीक जान ली जाय तो सम्यक है। पद्धति विपरीत हो तो सम्यक् नहीं।

१३ अगस्त १९५६

वस्तुस्वरूप तो वस्तुमें होता है सो किसी वस्तुका वास्तविक ज्ञान करना है तो उस वस्तु की बात उसी वस्तुमें देखो। आत्मवस्तुके सम्बन्धमें भी ऐसा देखा—ऐसा देखने पर परकी ओर दृष्टि न रहनेसे परका आश्रय

उपयोग होगा नही तब रागादि विभाव का अभ्युदय छीन होकर नष्ट होजावेगा। क्योकि यहा स्वका आश्रय आगया ना। निमित्तदृष्टि नैमित्तिक-भावको बढाती। केवल स्वदृष्टि नैमित्तिभाव को हटाती हुई होती।

आत्मन्! तुम अकेले हो तुम्हे अपनी शाति चाहिये। तुम अपना ही तो कुछ करसकते। आओ स्थिरचित्त होकर निजध्यानमें रत होजावो। देख लो अपने आपको एक देखलो जैसे कि तुम ध्रुव हो। देखलो जैसे कि तुम हो। परका तुझमें अत्यन्ताभाव है। सो परके सयोगकी बातके ढिग भी न आना।

करलो चतुराई, देखलो जुदाई। या लो प्रभुताई।

ॐ शुद्ध चिदस्मि।

१४ अगस्त १९५६

कल्याणप्रकृतिर्भद्रोऽकृतोऽबन्धो निरन्तर'।
पर युक्त' स्वयभूश्च, कलातीत कलाधर. ॥१००॥ ७५१
धर्मपालश्च लोकेश सर्वगो लोकनिर्गत.।
लोकातिग पुराणाद्यो, विश्वज्येष्ठ. सुदर्शन' ॥१०१॥ ७५९
कर्महा सुभगोऽनन्त–धर्मा कान्तश्च पौरुषी।
त्यागशीलो बृहन्नाथश्चाधियो ज्ञानवल्लभ ॥१०२॥ ७६८
ज्ञानगर्भोऽव्ययोऽभेद्य., सत्यार्थो मगलोदय।
स्वाश्रित परमानन्द, श्रीधरो महितोदय ॥१०३॥ ७७७
वरेण्यो निर्गुणोऽगण्यो, गुणग्रामो गुणाकर.।
पारगो गहनो गुह्यो, गणज्येष्ठो निराश्रय. ॥१०४॥ ७८७
इत्य स्तुत्य स्वय स्रष्टा, क ख ग स्वविलासकः।
श्रीमाल्लक्ष्मपतिर्जिष्णु–रचिन्त्यात्मा निजो जिन. ॥१०५॥ ८००
निर्द्वन्द सहजज्ञान, शक्तिमात्रममूर्तिक.।
सच्चिन्नियमसारश्च, प्रतिभासस्वरूपकः ॥१०६॥ ८०८

इति महेशादिशतम् ॥८॥

ॐ ह्रीं महेशादिशतनामवाच्याय सहजसिद्धपरमदेवाय नम.

चिन्मय. सुगत स्वामी, वीराराध्य सदाद्युति.।

उत्तमार्य प्रसन्नस्वो–ऽक्षय्यो जय्य पराक्रमी ॥१०७॥ ८१८
विश्वभृद्विश्वत पादो, योगाधारो महाक्षम ।
वियोग· परमस्तुत्यो, जगद्योनि सुसवृत ॥१०८॥ ८२६
त्राता च परमोपास्यो–ऽजर्यो यज्ञ समाधिद· ।
शैवेश परमाराध्य , स्वयम्मन्त्रश्चिदात्मक ॥१०९॥ ८३५
वेदेशो विश्वरूपात्मा, विद्यानिधिरुमेश्वर ।
अप्रतर्क्यो जगच्चक्षु–र्निबन्धो जिनपालक ॥११०॥ ८४३
अदीक्ष्योऽदीक्षितोऽदेहो, दिव्यौजास्तुङ्ग आत्मभू ।
अनाकाक्षो निदानो नि–ष्कपायविषयोऽतुल ॥१११॥ ८५३
भूतावस्यत्वशक्त्यात्मा, दुष्प्राप्यो मोक्षदोऽग्रिम ।
अयज्योऽयाजकोऽयाज्यो, द्विजाराध्य सदाश्रय ॥११२॥ ८६२

१५ अगस्त १९५६

नि शेषान्तर्मुखोऽच्छेद्य, शुद्धान्तस्तत्त्वभूमिक· ।
परद्रव्यनिरालम्ब , शुद्धभावसुचेतक ॥११३॥ ८६७
शुद्धरत्नत्रयात्मा सु–श्रीरुपयोगकारणम् ।
ध्यानध्येयविकल्पातो–तोऽन्तर्बाह्यक्रियासुमुक् ॥११४॥ ८७२
स्वभावानन्तचातुष्क , परद्रव्यपराङ्मुख ।
जिनधुर्योऽगतिस्तीर्थो, जिन धर्मो जिनोद्वह ॥११५॥ ८७९
शुभशुद्धाशुभध्याना–तीतोऽभेद्यो निरर्गल ।
चैतन्यनित्यतादात्म्य–श्चोपयोगैककारणम् ॥११६॥ ८८४
शुद्धान्तस्तत्त्वविष्णुश्च, दृग्ज्ञप्तिचरितात्मक ।
परमस्वभावशक्त्यात्मा, कारणशुद्धचेतन ॥११७॥ ८८८
सततान्तर्मुखाकार , साहजचिद्विलासित ।
नित्योन्मीलितशुद्धज्ञा–नोऽपर्यायिश्य पर्ययी ॥११८॥ ८९३
अतीन्द्रियस्वभाव स्व–स्य साक्षान्मोक्षमूलक ।
स्वभावसत्त्वमात्रो नि–र्गलनश्चानपेक्षक· ॥११९॥ ८९८
नयपक्षाक्षतोऽनङ्गो, मुक्तिकारणकारणम् ।

भव्याभव्यविकल्पान्तो, मुक्तामुक्ताविकल्पित. ॥१२०॥ ९०३
ज्ञानज्ञेयमयाद्वैतो, वाङ्मन कायत पृथक् ।
सर्वव्याप्येकचिद्रूपो भगवान् पारमार्थिकः ॥१२१॥ ९०८

इति चिन्मयादिशतम् ॥९॥

ॐ ह्रीं चिन्मयादिशतनामयाच्याय सहजसिद्धपरमदेवाय नमः

सुहित श्रीनिवासश्च, प्राकृतोऽसंस्कृतोऽहत ।
सुसंस्कृत स्वसवेद्यो, योगेन्द्रोऽजात उत्तमः ॥१२२॥ ९१८
स्वसंवेदनसिद्ध श, सन्तप्तह्निनशीतल ।
स्वत प्रसिद्धकैवल्यो, निरपायोऽभयास्पदम् ॥१२३॥ ९२४
निर्विषय. स्वश्रेय, सर्वसारस्तृतीयक ।
तोपमूलमनाहारोऽखण्डितोऽकर्मकोऽप्रज ॥१२४॥ ९३३

१६ अगस्त. १९५६

जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे ।
अनहोनी नहिं होसी कबहूं काहे होत अधीरा रे ।

लौकिक प्रकाश प्रकाश नहीं; आत्माका प्रकाश ही एक अपूर्व प्रकाश है जिसमें सब कुछ प्रतिभासित होता है ।

आत्मन् ! कुछ सोचना ही तत्काल अहित है । तू कुछ सोच ही मत । किसे सोचना है क्या कोई पर वस्तु तुममें कुछ परिणमावेगी ही नहीं । सब तुमसे भिन्न है किसे सोचते । जिस समय सोचने का परिणमन होता है उस समय कुछ तो क्षोभ रहता ही है वह विगाड़ है । सोचना एक अध्रुव परिणमन है वह होकर तुरन्त नष्ट होजाता है । किन्तु तुम्हे क्षुब्ध कर जाता है और आगेके क्षोभकी परम्पराका कारण वन जाता है । ऐसे अध्रुव असार कार्यको तुम करो ही न । प्रियतम ! तेरा अटका ही क्या है जो अपने बीच किसी पर पदार्थको किसीरूपमें बसाते हो तुम तो स्वयं आनन्दमय, सच पूछो तो परका सोचना ही तुम्हारे आनन्दका साक्षात् अन्तराय है ।

इतने अज्ञानी न वनो, अपने आपपर इतने मत रूठो । 'विभाव विदेशियोंने तुम्हे गुलाम वना दिया है—उस गुलामीको तोड़ो अपने सत्य

स्वरूपको देखकर उसी सत्य का आग्रह करो।

१७ अगस्त १९५६

ससारमें जितने जीव है सबका एक लक्ष्य है शाति। यह अच्छा है कि सबका लक्ष्य स्वभावत शातिका है। अत वास्तविक शातिके मार्गमें लगना कठिन नही है। शाति तो आत्माका स्वभाव ही है। शातिकी वधिका केवल परात्मवुद्धि है। परात्मबुद्धिके त्यागके लिये परसयोग त्यागनेका यत्न होना चाहिये। इसके अर्थ चरणानुयोगकी सम्मतिसे कदम वढाना चाहिये। भगवत अरहतका प्ररूपित मार्ग पूर्ण सत्य है। इस ही मार्गसे उद्धार सभव है।

अब तक अनेक विकल्प हुए, वे सब विकल्प पाप हैं। शुभविकल्प हुए वे भी स्वास्थ्यसे दूर रहनेके कारण बने।

हे निजहाय' जव तक शक्ति खोलकर आगे नही आते तब तक ही मुक्तिमार्ग, निर्विकल्प परिश्रम, साम्य अब कठिन दीखते। शक्ति खोलकर वढनेमें ससार भाव विकल्प परिणाम, वैषम्यभाव सभी कठिन होजायेंगे।

एक वार का पुरुषार्थ भर करना है फिर तो उपादेय मार्ग सरल व उपादान बनता चला जावेगा।

जगतमें कोई किसीका साथी नहीं है। सर्व माया है। कितना भी चित्त जाताहो परकी ओर सदा ध्यान रखो, वह सव माया है धोका है, स्वय है।

अव किसे क्या वताता, सभी समस्यावोका कर ले अभी हल, खुदका पन्थ चल, क्या चिन्ता करता क्या होगा कल, मोहतम दल, फिर न रहेगा मुझमें विकल्प खल, जो विभाव होते हैं उन्हे जाने दो टल, वे स्वय रहते नहीं है एक भी पल, प्राप्त कर अपने ज्ञान का वल उपाधिया स्वय ही जायगी गल, पायेगा अपने स्वभाव का अमृत फल।

१८ अगस्त १९५६

धर्ममार्गमें एक चित्त होकर लग जावो, परके लिये कुछ गुजायश न रखो विकल्परूप।

हे नाथ! सर्वज्ञदेव! उवार लेना मुझे! आपका ध्यानका सहारा बना रहे मुझे। मैं कुमार्गमें भी भटक गया हू तो भी आपकी डोर मैंने छोडी

आपके ज्ञानमें भी ऐसा ही झलक रहा ही होगा। क्यो न झलकेगा।
मैं जानता हू ना। वह ऐसा ही हैं। जो जैसी हे वैसी अरहत
ज्ञानमें झलकेगा ही। इसमें तो कभी भ्रम हो ही नही सकता।
हे नाथ! उबार लेना मुझे।

अनेक समय के एकत्रित, सचित भी पाप क्षण भर के आत्मानुभवसे
समाप्त हो जाते हैं। कितना भी भ्रम लिया हो, भटक लिया हो,
ी बात तो कुछ भी नही। जो कुछ हुआ होना ही था हुआ, निमित्त-
भावकी असफलता नहीं होती, नही हुई। अब तो इसकी आलोचना
ो। सो यह तो निश्चित हो गया कि ज्ञानविकासका समय आगया।
: लगा लो, सदा केलिये दु खसे छुटकारा पालो।

१६ अगस्त १९५६

नाथ कहते हैं उसे जिसका न अर्थ, आदि नही है। वह मैं ही तो हू।
साथ, अध्यवसानके साथ नही कहता, क्योकि वह मैं नही हू।

प्रभु उसे कहते हैं जो प्रकृष्ट रूपसे हो सके, जो अभी हो रहा वह
हू। आगे भी जो होगा वह भी मैं नही हू। प्रकृष्ट रूप भी जो होगा
मैं नहीं हू। केवल वह मैं हू जो प्रकृष्टरूपसे होसके, उसका सत्त्व अब
है पर्यायो से तिरस्कृत। किन्तु है, आयगा समय, होगा आविर्भूत।
। जो आविर्भाव है वह मैं नही हू। आविर्भावो में भी जो तिरोभूत है,
हू।

अरहंत भगवत, सिद्ध महतकी उपासना, उनके स्वरूपकी सच्चिन्तना
देती हे निजनाथ, निज प्रभु की अनन्य सेवाके लिये। हे भगवत्स्वरूप!
विराजो। यदि तुम क्षण भर भी मेरे से अलग न होओ तो कोई
। माने ससारभाव हो ही न सकेगा।

निर्विकल्प परिणाम ही अमृत है। अमृतके सेवन का अवसर योगियोको
प्त होता है। तभी तो मर्म की अजानकारीमें पौराणिक कुछ कथायें भी
ऐसी होगई कि अमुक सन्यासीने राजाको अमृत फल दिया आदि।

२० अगस्त १९५६

लोकमें अनतानत तो जीव है, अनतानत पुद्गल है, धर्मद्रव्य एक हे, अधर्मद्रव्य एक है, आकाशद्रव्य एक हे, काल द्रव्य असख्यात हे। इनम से प्रत्येक द्रव्य अपनी अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे हैं। कोई किसी अन्य के द्रव्य क्षेत्र काल भाव से नही हे। यह है वस्तुकी स्वतन्त्रता। जव हम किसी अन्य के द्रव्यरूप नही हे, किसी अन्यके प्रदेशोमें मेरा वास नहीं है, किसी अन्यके परिणमनसे मै परिणम नही सकता। किसी अन्यके गुणो से मेरा सत्त्व नही, मे स्वय स्वचतुष्टयरूप हू, तब परका मुझसे क्या सम्बन्ध ?। अव मोह, अज्ञान को स्थान कहा रहा।

मेरा कुछ भी कहीं नही है। मेरा मै हू। वह मै जो मेरा है वह मुझसे अन्य नहीं, इसलिये, यह ही आखिरी बात ठहरी कि मै मै हु। इसका भाव यह हुआ कि मै मेरे अतिरिक्त अन्य किसी रूप भी मै नहीं हू। दूर हटो परकृत परिणाम, सहजानन्द रहू अभिराम।

आत्मन्। तुम इतने ही हो न जितने अभी अनुभवमें भी आये थे, वस उतने ही रहो, आनन्द ही आनन्द वरसेगा।

आत्मा, व्रह्म, जीव, चेतन, पुरुष, प्रतिभास, कारणपरमात्मा, परमपारिणामिकभाव, ईश्वर, प्रभु, शिव, व्रह्मा, धाता, शकर आदि सब चैतन्यस्वरूपके नाम है।

२१ अगस्त १९५६

दूसरेके अवगुणोपर दृष्टि रखना अपना पतन करना हे। किसी महापुरुषकी शिथिलताका ध्यान करना भी अपना पतन करना हे।

दूसरे के सद्गुणोपर दृष्टि रखना अपना विकास करना है। महापुरुषकी शिथिलता अपने ज्ञानमें आके तव "कर्मके उदय वडोको भी भ्रष्ट कर देता है, यह भ्रष्टता पतन है सो कर्मके उदयपर थोडा विवेक ही तो रखना है इसी में विजय है" ऐसा विचार कर अपनेको उन्नतिकी ओर वढाय जाना अपना सच्चा विकास है।

आत्मन्! केवल एक अपनेको देख। दोप भी होता हे तो वह तेरा

विकल्पपरिणमन है। सद्विकास भी होता है तो वह तेरा समाधि परिणमन अथवा स्वभावोन्मुखताका फल है।

तेरा सुधार तू ही कर सकता है, अन्य कोई नहीं। तेरा बिगाड़ तू ही करता है, अन्य कोई नहीं। आनन्द मग्न तुम ही आप अपने आप अकेले होते हो, वह आनन्द किसी अन्यके द्वारा प्रकट नही होता और न अन्य के द्वारा बाटा जा सकता है। ज्ञान भी तुम्हारा तुमसे ही अकेलेसे प्रकथ्त होता है, ज्ञान भी अन्य किसीके द्वारा प्रकट नही होता और न अन्यके द्वारा बाटा जा सकता है।

अपनी सब प्रकार से अनन्यताको समझकर अपने आपकी ओर ही रह, परके सम्बन्धकी वृद्धि की रस्सी काट।

२२ अगस्त १९५६

आज महान् ऐतिहासिक दिवस है—चतुर्थ काल में एकदा श्री अकपनाचार्यसघ जिसमें ७०० साधु थे, घोर उपसर्ग हुआ। स्वयकी मूर्खतासे अपमानका अनुभव करनेवाले वलि आदि मन्त्रियोने छलकर पद्मनाभ राजासे ७ दिन को राज्य लेकर उनने इस सघ पर उपसर्ग किया। साधु सघ जहा स्थित था उसके चारो ओर व उनके बीचो बीच लकडी ईंधन, हड्डी चर्म आदि डलाकर अग्नि लगवा दी। भयकर दृश्य था साधु समतासे अध्यात्मकी ओर लग गये। उस समय विष्णु नामक साधुने जिनके तपस्याके कारण वैक्रियक ऋद्धि थी, वामन रूप बनाकर साधुसघका उपसर्ग दूर किया।

यह आत्मा भी साधना में लगा है। भूलसे पहिले जो उपयोगका अपमान हुआ था उसमें जो कर्म बन्ध गये थे उनके उदयकालमें, राज्यकालमें, साधना में लगे रहने पर भी विभावोके उपसर्ग हो रहे हैं यहा अनन्त गुणो पर उसर्ग हो रहे हैं। इस उपसर्ग को बचानमें विष्णु (ज्ञान) ही समर्थ है वह यद्यपि बडी ऋद्धिका धारिक है तीनो लोक व तीनो कालमें एक ही समय फैल जावे इसकी इतनी अद्भुत स्वाभाविक ऋद्धि है तथापि यह ज्ञान वामनरूप बनाये याने केन्द्रीभूत हो जाये तो यह विभावका उपसर्ग समाप्त होजायगा।

२३ अगस्त १९५६

आज सोलह कारण व्रत लग रहे है। सोलह कारण भावनाये बडी पुण्य भावनायें हैं। इन भावनो से पवित्रताकी वृद्धि है। इसका कार्य पवित्रता है तभी तो लोक में सभी पवित्रतावो का व पूर्णतावोका नाम "सोला" हो गया। महिलायें शुद्ध चौकाके लिये कहती कि सोला पालो, धोती सोला की है आदि। लोक में भी देखो लोग कहा करते है यह बात सोलह आना ठीक है। सोलह आनेकी मुद्रा होती है। सोलहका जटवारा छोटेसे छोटे अश तक पहुच जाता है। सतियोके नाम अनेक है किन्तु सोलह सतियो के नाम पूरे गिनाकर भी सोलहका महत्त्व ऋषियो ने दर्शित किया है। शृङ्गार भी सोलह उत्तम माने जाते हैं। वस्तुत शृङ्गार आत्माका यही सोलह कारण अव है। और भी देखो व्यवहारमें कुलीन मनुष्यके सोलह सस्कार फेरके उसे पवित्र बनाया जाता है।

किसीका कोई साथी नहीं, किसीका कोई हितू नहीं। सर्व जीत अपने आपके उपयोगमें परिणमते हैं। कषायका कषाय परिवार है। कषायका कषाय मित्र है। मित्रता (दोस्ती) कर लेना बहुत आसान काम है। मित्रता कहते किसे है? कषायसे कषाय मिल गई, तो मित्रता हो गई। एक मनुष्यका किसी दूसरे मनुष्यके प्रति वैर परिणाम है, यदि कोई दूसरा भी ऐसा मिल जाय जिसका उस अन्यके प्रति वैरका परिणाम हो तो यह लो उस एकका मित्र बन गया।

२४ अगस्त १९५६

दर्शनविशुद्धि भावना उच्चतम पुण्य का मूल है। इस भावना से पढकर कोई भी ऐसी भावना नही है जो उच्च पुण्यका कारण बने। चाहे अन्य भावनायें सवर निर्जराके अधिक समीप ले जायें यह अन्य बात है।

दर्शनविशुद्धिका अर्थ है—दर्शन सति विशुद्धिरिति दर्शनविशुद्धि। सम्यक्त्व के होने पर जो उच्चतम शुभोपयोग सम्बन्धी विशुद्धि है वह दर्शनविशुद्धि है।

इन भावनामें यह परिणाम मुख्य रहता है कि देखो समस्त बन्धनोसे,

आपदावोके छुटकारा पा लेनेका मार्ग अत्यन्त सरल है समीप है इस, किन्तु इसके जाने बिना जगत दुखी हो रहा है, कैसे ही, जल्दी ही, जीव इस सरल आसान, स्वाधीन निज चैतन्य मर्म को जान जावे और सर्व जाल, विपदावो से मुक्त होकर अतुल परम आनन्दमय होजावें।

हे आत्मन् ! मत दुखी होऊ, छोडो सर्व विकल्प जालो को, छोडो सर्व विचारोको, छोडो सर्व पदार्थो के विचारोको, हटावो अपने उपयोगसे समस्त पर पदार्थोको। क्या रखा इस बेवकूफीमें कि सम्बन्ध तो तेरा एक अणुमात्र भी अणुमात्रसे नही है और अपने निर्मल चैतन्य प्रभुताई में अनेक जडोको बिठा दिया हे। अपनी रक्षाकर, अपने प्रभुकी शान रख, अपने प्रभुकी प्रभुताईमें अब कलल न लगने दे।

अपना उपयोग अपने चैतन्य महाप्रभुकी ओर रख जोकि बडा आसान काम है इसीमें महान आराम है।

२५ अगस्त १९५६

लोग किसीको बडा बतानेके लिये व आत्मीयता बताने केलिये कह देते हैं कि हमारा इनसे प्राचीन सम्बन्ध है, हमारा इनसे बडा सम्बन्ध हे। परन्तु सम्बन्ध शब्द का क्या अर्थ हे इसपर दृष्टि होतो निन्दा ध्वनित होती है।

सम्बन्ध— स+बन्ध=अच्छी तरह जकड लेना बाध लेना या बध जाना। यह अवस्था विगडी अवस्था है इससे ध्वनित हुआ कि कहने वाला भी बिगडा है और जिससे कहा जा रहा है वह भी बिगडा है।

आत्मा जैसा परसे विभक्त होता चला जाता है उतना ही आनन्दित याने समृद्धि होता चला जाता हे। वस्तुत तो आत्मा पर से विभक्त है ही। आत्मा ही क्या समस्त पर पदार्थ सर्व अन्य पदार्थोसे विभक्त है क्योकि सर्व पदार्थों की स्वरूपसत्ता अवाधित एक निरन्तर रहती है। किन्तु उपयोग में मोहीको यह भान न था। अब जैसे भान करके यथार्थताकी, जैसे जैसे उपयोगद्वार से भी पर पदार्थोसे विभक्त मानता चला जाता है। इस ज्ञानीका वैसे वैसे ही ज्ञान व आनन्द का विकास होता चला जाता है।

काम तो पूरा बना बनाया है, मिजाज बगरानेका इलाज कौन करे। किसकी अटकी कि किसीको सुखी करनेको कमर कस ही लेवे। आत्मन मिजाज छोडो, तीन लोक व तीन कालका विचार करो।

२६ अगस्त १९५६

जब तक आत्माकी कमजोरी है तब तक कहीं रहो वही कुछ या न कुछ निमित्त बनाकर परिणाम कलुषित करेगा। यदि पंडितोका समुदाय मिले तब ज्ञान की बातें कह कर अपने मनका विलास करेगा। यदि साधारण बहुत समुदाय मिले तो उसके अनुरूप कह कर मनका विलास करेगा। यदि समुदाय कम मिले तो वहा कुछ भाव बनाकर विषाद करेगा। यदि निर्जन प्रदेश में रहना पडे तो वहा कुछ नही है सो अनुभूत कुछ का स्मरण कर विषाद बनावेगा।

जब आत्मा आत्मयोगी बन जाता है तब कही रहो वही अपने आत्मारामका शरण पाकर प्रसन्न रहता है। समुदाय उसे न कुछ चीज है। निर्जन प्रदेश उसका सहायक चीज है। समागममें न हर्ष है, विभाजनमें न विषाद है।

ज्ञानीके स्वभावदृष्टि निरन्तर रहती है जिसके प्रसाद से अनतिचार शील और व्रत होना उसके सुगम है।

जिसका चारित्र है उसका सर्व वैभव है। जिसने अपना चारित्र खो दिया उसने अपना सब लुटा दिया। चारित्र हीन सदा सक्लिष्ट रहता है। चारित्रवान सदा वलिष्ठ रहता है।

अनेक उपसर्ग आवें, अनेक दुर्भावनायें आवें हे जगत्! चारित्रकी रक्षा करो, ज्ञानवलसे उपसर्ग एव दुर्भावनावोका सामना कर उन्हे दूर हटावो।

२७ अगस्त १९५६

मन ठाली है, कलम लेकर तो बैठ गया, स्याही भी पास में है परन्तु लिखा क्या जायगा यह खबर नही। भावमें भी तो कुछ लिखनेको नहीं आरहा। चित्त तो समाधानरूप है, लेकिन यहा पासका यह प्रबन्धकोका प्रबन्धसम्बन्धी वार्तालाप बाधकसा बन रहा है। वस्तुत बाधक बाह्य

वस्तु नही है क्योकि परका अन्य सर्व परमें अत्यन्ताभाव है। बाधक तो स्वयं का कोई परिणमन स्वयकी किसी परिणतिका है।

उपदानकी ओरसे देखो तो सर्व परिणमन होते चले जाते हैं वहा कोई किसीका बाधक नही।

मरणासन्न मानवके समीप बैठकर समताकी बात कह कर व अन्य वचनो द्वारा उसके भावके स्वास्थ्य होनेमें निमित्त बनना भी एक महनीय कार्य है। इसके स्व पर दोनोको लाभ है।

अपना उपयोग निर्मल रहे ऐसी चेष्टा बडी साधना है। एतदर्थ ही सेवा व परोपकार है। एतदर्थ ही तप और सयम है। एतदर्थ ही अध्ययन व अध्यापन हे। एतदर्थ ही यात्रा व सत्सङ्ग है।

जिनके मोह है उन्हे अपनी वर्तमान परिणति ही प्रिय मालूम होती है एव उन्हे अपना वर्तमान परिणाम अपराध नहीं जचता। न जचे, एतावता उसके फल भोगनेकी जुम्मेदारी समाप्त न हो जावेगी।

सम्मत दोषोकी खान पर्यायबुद्धि है। इसके रहते कल्याण नितान्त असभव है।

२८ अगस्त १९५६

ससारमें सबसे बडा दु ख है जन्म मरण। जन्म मरणकी जड है देहमें आत्मबुद्धि। देहमें आत्मबुद्धिका कारण है अज्ञान। अत सारा दु ख जिन्हे दूर करना हो उन्हे अज्ञान विनाशका उपाय करना चाहिये। एतदर्थ स्वाध्याय व अध्ययन उत्तम उपाय है।

२९ अगस्त १९५६

जिनका जीवन गुजरनेके अन्तिम क्षणोमें है उनके परिणाम या तो अधिक पछतावे के होया करते है या निर्विकल्पता की प्रगति को लिये हुए होते हैं। इन दोनोके २ कारण हैं— (१) जीवनमें यदि कुछ धर्म न कर पाया, विषय कषायोमें बसा हुआ समल परिणाम रहा आया तो अन्तमें पछतावा के सविकल्प परिणाम होते हैं। यदि जीवन व्रत सयमसहित बीता, माया मिथ्या निदानके परिणामोमें कलुषित न रहा तो ऐसे परमसतोषके जीवन

वालेको निःसगता के भाव, वैराग्य के भाव, आत्मदृष्टि के परिणामोकी प्रगति के कारण निर्विकल्पताकीप्रगतिके भाव होते है।

अपना कल्याण सोचो। दूसरोपर यदि असर होता है, होगा तो वह तुम्हारे कल्याणमय विचार के हेतु।

अतः स्वकल्याण, निजसदाचारकी प्रवृत्ति स्वपरोपकारिणी है।

कौन कबतक यहा रहेगा। कुछ अन्दाज है। कुछ पता नहीं। तुम्हे अपना भी पता है? ऐं ऐ क्या कुछ निश्चय नहीं तो लो अभी से धर्ममार्गमें लगो।

३० अगस्त १९५६

तत्त्व और अर्थ में क्या अन्तर है? जितना कि भाव व द्रव्यमें।

गुण व गुणपर्यायमें किस किस विषयका अन्तर है? ध्रुव अध्रुवका, अन्वय, व्यतिरेकका, अपरिणामी, परिणामीका, सामान्यविशेषका, सहभू, क्रमभू का, शाश्वत, वर्तमानका और शक्ति, व्यक्तिका।

सयम और तपमें क्या अन्तर है जितना भक्ति और पूजामें।

स्वभाव और विभावमें कितना अन्तर है? जितना स्वच्छता और गन्दगीमें।

अच्छा हुआ कि ज्ञानसे कुछ सत्पथ की बात समझमें आई। परन्तु अच्छा तो तभी है जब आखिरी परिणाम भी अच्छा रहे।

बुरा हुआ कि परिणामोमें उचित निर्मलता नही है पर बुरा तो और सर्वथा जब दृष्टि भी मलीनताकी ओर होती।

अनादिसे भली अस्त चले आये हुए इस आत्माको बडा हस्तावलम्बन श्रद्धा है।

यदि श्रद्धाका सहारा न हो तो अधमसे परम होना असभव है।

हे निजनाथ! अब कबतक भटकना होना हमें और तुम्हे (यह पर्याय और स्वभावकी बातचीत है)।

३१ अगस्त १९५६

जनमनप्रिय! सज्जनमान! मुमुक्षुजनमनप्रिय! मुनिजनमनप्रिय!

हे चैतन्यप्रभो ! तेरी सचेतनामें ही समस्त आनन्द है। जानता तो हू पर मान भी जाऊ। मानता तो हू पर मान भी जाऊ। मानता तो हू पर मन भी जाऊ। ठानता भी हू किन्तु निभाऊ और निभा जाऊ। यही तेरी भक्ति है, यही तेरा प्यार है। हे चैतन्य प्रभो अब गरीब न बनो, न बनाओ।

आत्माकी तीन दशायें हैं बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा इन तीनो दशाओमें द्रव्य तो समान है। स्वभावदृष्टिसे निरपेक्ष तत्त्व परखा जाता है। वह तो मुझमे व परमात्मासें समान है किन्तु कहनेको तो ऊपरी अन्तर और गुजरनेको महान् अन्तर यह आया कहासे, अरे भैया कहीसे नही केवल जानने मानने का फेर है।

हे स्वलोकनाथ ! केवल स्वकी ही खबर लेना। मैं ज्यादह बोझ नही डालता तुमपर।

हे आत्मन् ! तुम केवल अपना ही बोझ सम्हाल लो अपने उपयोगमें। इतने से अधिक और कुछ नही करना है कल्याण के लिये।

१ सितम्बर १६५६

अन्य कुछ क्या करना है ? कुछ नही। क्यों ? यो कि कुछ अन्य कर भी नहीं सकता। लोग तो अन्यको कुछ करते हुए देखते तो है ? नही फिर क्या बात है वह। वह सब आश्रयकी प्रधानतासे बोलनेका व्यवहार है। तो क्या तुम ऐसा जिन्दगी में व्यवहार न करोगे ? करूगा तो सही किन्तु मानूंगा यथार्थ। तो क्या यह मायाचारी नही हुई ? नहीं हुई। क्यो ? योकि मानने में तो परमार्थ आता है किन्तु बोलनेमें परमार्थ नही आता है। बोलनेकी तुम जहा बात करते हो वहा व्यवहार ही आवेगा। व्यवहार से व्यवहार सत्य है।

व्यवहारभाषाका ठीक भाव समझ लेना ही ज्ञान है।

व्यवहारका कहा परमार्थसे मानो तो असत्य हे, व्यवहारका कहा व्यवहार से मानो तो सत्य है, व्यवहारका कहा परमार्थका प्रयोजन बतावे तो व्यवहार प्रयोजनवान है।

सत्यका अर्थ सति भव सत्यम्। सत् में है द्रव्य गुण पर्याय। उसका

नर्वाचन नहीं होता जैसा है तैसा। अत उसका जो भी सकेत है वह यवहार है।

२ सितम्बर १९५६

मनुष्यभवका लाभ मनु याने अवबोधत में है। अवबोध न पाया तो मनुष्य होने का क्या लाभ।

ससार दु खका घर है, दु ख स्वरूप है किन्तु ससार है क्या? निजका विभाव परिणाम। निजके विभावका व्यय होना जो कि स्वाभाविक पर्यायरूप है वही मोक्ष है।

जितना वैराग्य है उतना कल्याण है, जितना राग है उतना अकल्याण है। आत्मा स्वय कल्याणमय है परन्तु अपने भ्रमसे अकल्याणमय बन रहा है।

जीवकी भावशक्ति है उसका उपयोग चाहे अच्छा कर लिया जावे या बुरा किन्तु आत्मा विलक्षण शक्तिशाली है इसमें सन्देह नही।

सर्व अनर्थोकी जड मोह है। मोहकी पुष्टि अज्ञानसे होती है। अत मोहका विनाश चाहनेवालोको अज्ञानके विनाश के अर्थ ज्ञानसाधना करना चाहिये। ताकि अभीक्ष्णज्ञानोपयोग बन सके। अभीक्ष्णज्ञानोपयोग ही कल्याणका कारण बनेगा।

वस्तु-जिसमें अनन्त गुण धर्म। वस्तु-जिसमें स्वचतुष्टयसे अस्ति हो और परचतुष्टयसे नास्ति हो।

३ सितम्बर १९५६

अगुरुलघु-न ऐसा भारी हो जावे कि अपनी सीमाको उल्लघकर अन्य द्रव्यरूप भी परिणम जावे और न ऐसा लघु हो जावे कि अपना परिणमन भी उडा देवे याने परिणमन ही बन्द हो जावे।

पदार्थ है, है का काम अस्तित्वने किया। पदार्थ अपने चतुष्टयसे ही है पर के चतुष्टयसे नही यह काम वस्तुत्व गुणने किया।

पदार्थ परिणमन शील है यह काम द्रव्यत्वगुणने किया।

पदार्थ अपने असाधारण गुणोकी सीमामें ही परिणमते अपना स्वभाव

छोड अन्य द्रव्य रूप न यह काम अगुरुलघुत्वने किया।

पदार्थका कोई न कोई आकार याने प्रदेशवत्ता रहती ही है यह काम प्रदेशवत्त्व गुण करता है।

पदार्थ किसी न किसीके ज्ञानका विषय होता है यह काम प्रमेयत्व गुणके कारण होता है।

पदार्थोकी उक्त सामान्य व्यवस्था पदार्थ के इन ६ सामान्य गुणो के कारण है।

हम भी एक पदार्थ है अत. यही व्यवस्था हमारी है। हम है और आगे रहेगे। किस रूप हम रहेगे यह जुम्मेदारी हमारी हम पर ही है।

४ सितम्बर १९५६

धर्म अपना परिणमन है। कैसा परिणमन धर्म है इसका निर्णय कर लेना चाहिये। सराग परिणमन अधर्म और वीतराग परिणमन धर्म है। वीतराग परिणमन ज्ञाता द्रष्टारूप है। केवल ज्ञाता द्रष्टा रहना इसमें वीतरागता स्वय आजाती है।

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥

बाहिरी लोग मुझे अच्छा जानते है इससे कही अच्छा फल न मिल जायगा और बाहिरी आदमी यदि मुझे बुरा जानते है तो इससे कहीं बुरा फल न मिल जायगा।

अपना परिणमन अच्छा बनानेकेलिये पहिले इन्द्रियविषयोकी वाञ्छा त्यागी जाती है। विषयवाञ्छा यो ही दूर नही होजाती। एतदर्थ ज्ञानकी आवश्यकता है। ज्ञान वह है जो अपना कर्ता करण, कर्म व कर्मफल अपने को मनावे। इतना परिणमन होजानेके बाद सत्पथ पर जैसे चलना होता है वह अनायास होता जाता है। आवश्यकता प्रारम्भके सम्हाल की है।

५ सितम्बर १९५६

आज मंगलवारका दिन है, इस दिन लोगो के बाजारकी छुट्टी होनेके कारण लोग आते है अत मौन नही रखा।

धर्म करनेकेलिये भी सकोच रहे तो फिर प्रगति किस तरह हो।

यह भी कमजोरी है, रागका प्रसाद है। बिलकुल मौनका एक दो दिन अभ्यास कभी कभी रखा जावे तो वह स्थिति बाह्य सहायक हो सकती है इस सकोचको मिटाने में।

६ सितम्बर १९५६

आज कल इगलिश अध्ययनमें विशेष चित्त होजानेसे स्वाध्यायको मौका कम मिलता किन्तु अहर्निशमें कई बात अरहत प्रभु की भक्ति में कह लेता हू कि नाथ मुझे ख्याल है कि एक आवश्यक कर्तव्य स्वाध्याय मैं कर नही पाता। इतना ख्याल है इस ध्यानको प्रभो स्वाध्यायमे शामिल जान लेना। मै प्रवचनके करने को ही स्वाध्याय में मान कर नाथ तेरे शासनको ही इग्लिश में लिखने के ध्येय से इग्लिशकी ओर लग रहा हू।

७ सितम्बर १९५६

प्रभो ! क्या करू ? जान कर भी ज्ञानमार्ग में अनतिपद्वतिसे नहीं बढ पाता इसे क्या मै चारित्रमोह कहू या मिथ्यात्व।

सर्व कुछ बिगड जावे किन्तु सम्यक्त्व न बिगडे यही मेरी आखिरी प्रार्थना है हे नाथ।

जीवका शरणसम्यक्त्व है और चारित्र का पिता सम्यक्त्व है। सम्यग्ज्ञानका सहोदर सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व निरपेक्ष सत्य मित्र है। सम्यक्त्व परम धनम्।

पराधीन सुखसे स्वाधीन दु ख उत्तम है यह बात नि सन्देह है।

परतन्त्रता, आशा, प्रतीक्षा, इच्छा ये सब दु खके ही अनर्थान्तर हैं।

स्वतन्त्रता, निराशा, निश्चिन्तता, निरीहवृत्ति ये सब आनन्दकी जननी है।

पराधीनता और स्वाधीनता में नरक स्वर्ग जितना अन्तर है।

८ सितम्बर १९५६

पराधीनता किसी न किसी विषयकी चाहमें होती है। वे विषय ६ प्रकारके है— १. स्पर्शन इद्रिय विषय २ रसनेन्द्रियविषय ३ घ्राणेन्द्रिय-विषय ४ चक्षुरिन्द्रियविषय ५ कर्णेन्द्रियविषय ६ मनका विषय।

स्पर्शनेन्द्रियविषय २ प्रकारके हैं एक शरीर पीडा निवारक दूसरा कामविषयक ।

ये सब इन्द्रियोंके विषय कहलाते हैं । छठा विषय है मनविषयक— अपनी प्रतिष्ठा, इज्जत चाहना नामवरी चाहना मनका विषय है ।

उक्त विषयोंमें से किसी विषयकी वाञ्छा हो जावे वह केवल क्लेशकी ही कारण है । तथा वह क्लेश पराधीन है । इसके मुकाबिले वह कष्ट शान्तिप्रद है जो होता भी है किन्तु निजके विवेकबलसे उसका सह लेना या उपेक्षित कर देना अपने आधीन है ।

हे नाथ दुःख ही अन्य कुछ नही है । केवल पराधीनता ही दुःख है ।

आत्मन् आनन्द भी कुछ अन्य नहीं है केवल सत्य स्वतन्त्रता ही आनन्द है ।

९ सितम्बर १९५६

नाथ अर्थात् जिसका अथ नहीं याने अनादि तत्त्व हे चैतन्यस्वरूप ! तुम मेरे उपयोगमें निरन्तर बसो । तेरे बसे बिना बडे अनर्थ हो रहे हैं ।

बाजाल, वाचाल, वेहाल, वेपाल, वेकार वेजार हो रहा है यह । यह सब अज्ञानका परिणाम है ।

१० सितम्बर १९५६

आज उत्तम क्षमाका दिवस है । दिवस तो दिवस है इस दिन उत्तम क्षमा मनावेंगे ऐसा सकल्प होनेसे यह दिन भी उत्तम क्षमाका कहलाने लगा ।

यदि आत्मामें क्षमाभाव बना रहे तो सारे दिन उत्तम क्षमाके कहलावेंगे ।

११ सितम्बर १९५६

मार्दव मृदुपरिणाम, कोमल परिणामको कहते हैं । यह कोमलता घमड में नहीं रह सकती इस लिये घमड न करना मार्दव है ।

मृदुता एक बहुत उत्तम गुण है । इससे लौकिक शान्ति भी प्राप्त होती है अलौकिक शान्तिका तो बीच है ही ।

मृदुता, सहजमृदुता आत्माका स्वभाव है उसे उत्पन्न करनेमें कोई श्रम

नही होता। श्रम तो स्वभावके विरुद्ध चलनेमें होता।

१२ सितम्वर १६५६

सरलता आत्माका सहजभाव है। सरलता यद्यपि एक दशा है तथापि स्वभाव तो असरल होता ही नहीं अत सरलता आत्मस्वभाव ही है।

सरलतासे अनेक सद्गुण प्रकट होते हैं — सरलता आत्मोन्नति की जननी है।

सरलता आत्महित की साधिका है। सरलतासे लौकिक आपत्तिया प्रथम तो चाहे आजावें किन्तु पश्चात्

१३ सितम्वर १६५६

धर्म के नामपर आजकल हिन्दु मुसलिम दगा खडा होगया। इसपर दोनो ओरसे सम्हाल नही है। यह दगा स्वय धर्म नही है। धर्म जीवरक्षा में तो सभव है किन्तु कषाय में जीवरक्षा कहा।

यद्यपि बात और धर्मकी किन्तु व्यवहारमें आना कठिन है।

धर्मके ऐसे ही बाह्यरूपोकी विडम्बना देखकर विदेशी जन धर्मको झगडे की जड मानने लगे हैं और राष्ट्रसे धर्मकी क्रियाओ को दूर करने लगे हैं।

क्या हो, क्या किया जाय—सोचनेसे क्या होता। फिर भी सोचे बिना रहता कौन।

लोग कहते हिन्दु गम नहीं खाते तो दूसरी ओरसे देखो मुसलिम गम नही खाते।

अनेको जाने जाती है। जो मनुष्य भव वडी कठिनाई से पाया है उसका सदुपयोग न किया जावे तो रहना, जीना मरना सब बराबर है।

स्वय स्वयकेद्वारा स्वयकेलिये स्वय से स्वय में स्वयको परिणमाता है। इस के सिवाय अन्य और कुछ नहीं किया जा सकता फिर परको ओर दृष्टि देना मात्र व्यामोह है।

१४ सितम्वर १६५६

सर्वसकल्पविकल्पजालोसे निवृत्त होकर ज्ञाता द्रष्टाकी स्थिति पा लेना

सर्वोच्च विवेकफल है।

विकल्प जालका जाल गहन है। विकल्पोका यह क्या विचित्र निर्माण है। विकल्पोका यह रूप कैसे बना। अहो इस ईश्वरकी अद्भुत लीला है, अद्भुत माया है। यह अपनी मायाको फैलाता यही ससार है। यह अपनी मायाको सकोड लेता याने विभाव पर्यायोको विलीनकर देता यही मोक्ष है। खुदके स्वभावमें खुदका आजाना यही ब्रह्मने लीनता है।

उपशम सम्यक्त्व मोक्षका पहिला पडाव है। इसके बाद जो आवश्यक पडाव हैं वे ये हैं (२) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व (३) क्षायिक सम्यक्त्व (४) सयम (५) सातिशय अप्रमत्त (६) अपूर्वकरण (७) अनिवृत्तिकरण (८) सूक्ष्मसाम्मपशाय (९) क्षीणकषाय (१०) सयोगकेवली (११) अयोग केवली क्रमसे ११ पडाव तो मोक्षमार्गीको करना ही पडते हैं।

१५ सितम्बर १९५६

जगद्गीतसहायश्च, भूतनाथोऽखिलेश्वर ।
सामान्यदृष्टिदृश्यश्च, ज्ञानानन्दसमुच्चयी ॥१२५॥ ९३८

शसादिकल्पनाशून्यो, विशुद्ध पारिणामिक ।
जन्ममृत्युजरातीत, सङ्गातीतो हिताकर ॥१२६॥ ९४४

आत्माऽनिर्दिष्टसस्थान, सप्रदेशो निरञ्जन ।
हेयोपादेयदूरस्थो दर्शनज्ञाननिर्भर. ॥१२७॥ ९४९

ज्ञायकैकस्वभावश्च, सोमस्वरसनिर्भर ।
स्वान्यषट्कारकोत्तीर्ण स्वद्रव्यादिसुपारित. ॥१२८॥ ९५४

अखण्डप्रतिभासाभो, विकल्पातिक्रमी जिन. ।
सर्वङ्कष उदारश्चो-दितद्रव्यत्व ईरित ॥१२९॥ ९६१

ज्ञानदर्शनसर्वस्वोऽनिर्माता प्रापकोऽग्रणी. ।
परास्रष्टात्मस्रष्टा च, गुणपर्यायसगत. ॥१३०॥ ९६८

तीर्थेशस्तीर्थवेधाश्च, तीर्थसेव्यस्त्रिविक्रम ।
निष्पीतानन्तपर्यायो, धर्माध्यक्षोऽभिनन्दन ॥१३१॥ ९७५

शम्भवो विश्वभूर्वेदो, विश्वविद्येश इष्टद. ।

अशब्दोऽनाकुलोऽकायोऽवर्णोऽगन्धो विकल्मष ॥१३२॥ ९८५

जगद्गर्भोऽस्पृहोऽलेपो, नि सपत्नश्च मगल ।

योगिवन्द्य सदाभावी, सदाभोग सदाजय ॥१३३॥ ९९४

गभीरो विश्वत प्रत्य–ग्ज्ञानविस्फूर्तिसात्मक ।

शुद्धाशुद्धविनिर्मुक्त–श्चित्स्वभावश्च शाश्वत ॥१३४॥ १०००

सामान्य सविशेषश्च, शक्तिपुञ्ज समाधिराट् ।

स्वतन्त्रो निर्मलोऽद्वैत सहजानन्दसाधित ॥१३५॥ १००८

इति सुहितादिशतम् ॥१०॥

ॐ ह्रीं सुहितादिशतनामवाच्याय सहजसिद्धपरमदेवाय नमः

आर्या

शुद्धात्मतत्त्वभवतेनानेन जनेन लोककुलनाम्ना ।

क्षुल्लकवर्णिमनोहरसहजानन्देन विहिताया ॥१३६॥

भक्ते शब्दै रचित सहजसिद्धसहस्रनामस्तोत्रम् ।

ध्याल सम्मग सहजानन्दानुविशुद्धये भूयात् ॥१३७॥

इत्याशीर्लाभ

१६ सितम्बर १९५६

ससारके समस्त पदार्थोंसे अत्यन्त निरपेक्ष होकर थोडे समय रह लिया जावे तो ऐसे रहनेकी परम्परा बनकर जल्दी ही किसी समय वह स्थिति बन जावेगी जिस स्थितिमें सत्य सहज आनन्द वर्तता ही रहता है।

प्रभो! हे ज्ञानप्रभो यद्यपि अर्थ प्रभुका आश्रय मात्र याने ध्यानके विषयके कारण निमित्त मात्र करके ज्ञानप्रभुका निर्माण हुआ है तथापि उद्धारक ज्ञान प्रभु ही है।

यद्यपि जगतके रूप रस गन्ध स्पर्श शब्द पर्यायवाले पुद्गलोको निमित्त-मात्र करके ज्ञान विषयका निर्माणहुआ है, तोभी पातक ज्ञानविषय है अर्थ-विषय नहीं।

ज्ञानमोक्षमार्ग और अर्थमोक्षमार्ग ये दोनो एक है सभी मोक्षमार्ग मोक्ष-मार्ग रह सका है अन्यथा अर्थात् द्वैतभाव हो तो मोक्षमार्ग नही बनसकता था।

१७ सितम्बर १९५६

कमजोर आत्माके परिणमन बाह्य वातावरण पाकर क्षुब्धही होते हैं। आजकल यह हिन्दु मुसलिम दंगा प्रायः सभीके चित्तके विक्षोभका कारण बन रहा है। आज कुछ शान्तिके चिन्ह नजर आ रहे हैं। अज्ञान में जो कुछ हो जाय सो थोडा है यह बात ठीक क्यों न हो जब कि ज्ञानमें जो कुछ ज्ञात हो जाय वह थोडा है।

ज्ञानकी महिमा अपार है तो अज्ञानकी भी महिमा अपार है। यह निजनाथ ईश्वर अपनी कैसी लीलाओंसे खेलता है। एक शरीर छोडा कि दूसरे पुद्गल पिण्डको कैसे अपनासा लेता है, कैसे उस के प्रमाण हो जाता। कैसी कैसी पर्याय बनाता है। उसकी लीला को जानना कठिन है। उसकी लीला अपार है।

१८ सितम्बर १९५६

चौदह गुणस्थानोसे अतीत दशा सर्वथा शुद्ध दशा है।

चौदहवी समयसारगाथामें ध्येय तत्त्व पाने का बडा ही सरल सुगम उपाय बताया है।

चौदह प्रकारका आभ्यन्तर परिग्रह छूटे ही आत्माका उद्धार सभव है।

चौदह जीवसमासोसे अतीत जीवकीदशा पूर्ण स्वभावानुरूप दशा है।

१९ सितम्बर १९५६

संसार क्या है? जो कुछ दिखता यह? यह भी ससार है और वास्तवमें संसार वह है जिसपरिणाममें विषमता वर्तती है। हमारा ससार हममें है। इसका विनाश मोक्ष के उत्पादरूप है। मोक्ष हमारा हममें। इसका उत्पाद संसारके विनाशरूप है।

परिणामोकी निरन्तर निर्मलता रखो। तुम्हारा साथी परिणामोकी निर्मलताके अतिरिक्त अन्य कोई हो ही नहीं सकता। परिणामोकी निर्मलतामें जो आनन्द है वह विशुद्ध है, निरपेक्ष है, सहज है और है अनुपम।

वस्तुस्वरूपके अनुकूल अपने विचार अपना ज्ञान होनेमें निर्मलताको स्थान पड़ता है। वस्तुस्वरूपके विरुद्ध अपने विचार बनाने में मलिनता को

पहरेदारी करना पडती।

कोई कार्य ऐसा न करो जिसके बाद यह कार्य गुप्त रहे ऐसी भावना उत्पन्न होना पडे।

कोई वचन ऐसा न बोलो जिसके बोलने के बाद यह बात गुप्त रहे ऐसी भावना उत्पन्न करना पडे।

ऐसा कोई विचार मत बनाओ जिस विचारसे अशुभकर्मबन्ध हो।

वह सत्य हे जो सत् में वर्तता हे और वह ध्रुव सत्य है जो सत् में त्रिकाल रहता है।

२० सितम्बर १९५६

सत् और ध्रुव सत् इनमें पर्याय गुण जितना अन्तर है।

मरनेवालोको देख अपनी मृत्युभी शिरपर हे ऐसा कभी महसूस किया या नहीं। महसूसतो उसे होगा जो कि ज्ञानी हो या तीव्र मोही हो।

परिणामोकी निर्मलता समलता पर सब विधि विधान निर्भर है।

कर्मरेखा का परिवर्तन कठिन है। इसका अर्थ यह है —

२६ सितम्बर १९५६

जैसे लोग कहते हैं कि धनमें धन आता है। वैसे यहा भी यह बात है कि निर्मलतामें निर्मलता बढती है और मलिनतामें मलिनता बढती है।

जैसे यह निश्चित ही नहीं कि धन से धन बढ़े ही। इसी प्रकार यह भी पूर्ण निश्चित नहीं कि निर्मल परिणामके बाद निर्मल ही परिणाम आवे या मलिन ही परिणाम आवे।

जैसे कोई निर्धन भी कदाचित् गोद आदि के उपक्रमसे किसीके धन से एकदम धनी कहलाने लगता।

और धनी भी अकस्मात् धनशून्य निर्धन हो सकता। इसी प्रकार कोई मलिन परिणामी कदाचित् अन्तरङ्ग बहिरङ्ग कारण पूर्वक अकस्मात मलिन परिणामका व्यय करके निर्मल परिणामी हो सकता है। और निर्मल परिणामी कदाचित् अकस्मात् अन्तरङ्ग बहिरङ्ग कारणपूर्वक निर्मलताके व्यय होकर मलिन बन सकता है।

अत हे हितैषिन् ! ज्ञानस्वभावकी सम्हालमें जागरुक रहो । शिथिलताका कोई अवसर न आ पावे ऐसे सत्सङ्ग व ज्ञानके यत्न करो ।

२७ सितम्बर १६५६

अपने आपको अपनी दृष्टिमें पालेना अपना उद्धार है ।

जगतमें विषय कषायोका प्राबल्य कर्मोंके प्रबल बन्धका हेतु है ।

सर्वोत्तम सदाचार ब्रह्मचर्य है । ब्रह्मचर्यके विनाशमें यह जीव खुदकी दृष्टिमें गिर जानेके कारण अपना उत्थान नही कर पाता । ब्रह्मचर्यके विनाशमें मानसिक, वास्तविक व शारीरिक तीनो प्रकार शक्तिया शिथिल हो जाती है ।

ब्रह्मचर्यका ध्वसक अन्तमें बडा पछताना है दुःखी होता है ।

जिसका ब्रह्मचर्य गया उसका सत्य भी गया ।

ब्रह्मचर्य समस्त सदाचारोका नामक है । व्यभिचार समस्त अवगुणोका नायक है ।

३० सितम्बर १६५६

जब जब परिणामोमें शिथिलता आवे उस समय कर्तव्य है कि किसी विशिष्ट निर्मलपरिणामी साधु संतोके समागममें पहुच जावे । जब तक सत्समागम न पावे तब तक शुभोपयोगके विशेष कार्यो में लग जावे,—पूजा, भक्ति, विधान, स्वाध्याय, दीनसेवा आदि कार्योमें लग जावे ।

ससारका छूटना सरल चीज नहीं । यदि सरल होता तो कभी का छूट गया होता । यह विभाव आपातकालरमणीय है । अत छोडनेको चित्त नही चाहा करता । किन्तु विशिष्ट भेद विज्ञान के अतुल सहारेको मजबूत करे और एक बार भी स्वरसका स्वाद लेले तो सदाके लिये दु ख की रस्सी कट जावे ।

१ अक्टूबर १६५६

लौकिक कार्य, कार्यफल बडे यत्नके बाद सिद्ध हो पाता है तो क्या अलौकिक कार्य, मोक्ष क्या बिना यत्नके प्राप्त कर लेगा । इसमें महान् पुरुषार्थ की आवश्यकता है । वह महान् पुरुषार्थ है सम्यक् ज्ञान । वस्तुका यथार्थ बोध करके उस पर निश्चिल उपयोग रखना महान् पुरुषार्थ है । इस पुरुषार्थ

बिना अनेक महान् महान् यत्न करके भी यह जीव अपना दुःख न मेट सका ।

सम्यग्ज्ञानके विकास का साधक है इद्रियविषयत्याग । इन्द्रियविषय-
त्याग का साधक है विषयभूत पदार्थोंका दूर कर देना । एतदर्थ एक नवीन
स्फूर्तिकी आवश्यकता है । वह स्फूर्ति सत्सगतिमें अल्प आयाससे सिद्ध
होती है ।

ज्ञान और सत्सङ्ग ये दो महान् वैभव है । इस जीव पर कुछ भी
पाप पुण्य की परिस्थिति गुजरा किन्तु इन दो सुधाकरोका लाभ मत छूटो ।

३ अक्टूबर १९५६

ससरणमें मनुष्यजन्मकी प्राप्ति अतिदुर्लभ है । ऐसे दुर्लभतम मनुष्य-
जन्मको पाकर यदि कोई अलौकिक कार्य न साध पाया तो मनुष्यजन्म व्यर्थ
ही गमाया समझिये ।

कैसी धारणा ! कैसी बोली ! कैसा व्यवहार ! कैसा प्रेम ! कैसा
धर्मसाधन ! कैसा तप !

अहो उत्तमोत्तम हित साधन, अलौकिक समयमन इस भवमें ही तो
मिला है । ऐसी निधिको समल ससार सागरमें डुबो मत देना ।

हाय यदि यहा, कोई उत्थान न किया तो कहा करेगा । कहाकी
आशाकी जायकि वहा उत्थान होगा ।

इस नर भवका लाभ लेना । नरजन्म कल्पवृक्ष है चाहो निगोद का
रास्ता ले लो, चाहो स्वर्गका रास्ता ले लो, चाहो सदाके लिये ससार दुःखसे
छूट जावो ।

५ अक्टूबर १९५६

प्रकृतसे सस्कृत होता है, सस्कृतसे प्रकृत बनता है । किसे पहिलेका
कहा जाय इन दोनोमें से ।

परिमार्जन विना अपभ्रश क्या ? और प्रकृत बिना परिमार्जन
किसका ?।

सयोग या अपेक्षावोसे पड़े हुए नाम एक साथ होनेवाली वस्तुको
बताते हैं । जैसे पितापुत्र एक साथ, पतिपत्नी एक साथ, भाई भाई एक साथ,

चचा भतीजा एक साथ वैसे ही भगवान भक्त एक साथ हुए।

ससार तो अनादिसे है परन्तु मोक्ष तो ससार पूर्वक है। कोई भी जीव मोक्ष जावे तो कमसेकम आठ वर्ष तो वह ससारमें रहता समझो। फिर मोक्ष कैसे अनादि हुआ। यह एक प्रश्न है।

उत्तर यह है कि अनादिके बाद ८ वर्षकी तो बात क्या ? अनादिके कोडाकोडी सागर के बादका भी काल अनादि ही रहेगा। यदि अनादिके कुछ वर्ष बादकी चीजकी कोई सीमा समझी जावे तो पहिला भी अनादि न रहा।

८ अक्टूबर १९५६

इन्द्रियसुख आनन्दरूप नहीं किन्तु क्लेश रूप ही है।

इन्द्रिय सुख की प्रतिकूलतायें कुछ इस प्रकार हैं—

(१) यह सुख पर विषयोके समागम पर निर्भर है।
(२) यह सुख इन्द्रियोके स्वास्थ्यके आधीन है।
(३) इस सुख के काल में भोगने की आकुलता है।
(४) इसके योग केलिये अनेक चिन्तायें करना पडती हैं।
(५) यह सुख महाकष्ट और सक्लेश करि साध्य है।
(६) यह सुख क्षणिक है इसके भोगके बाद कष्ट होता है।
(७) इस सुखके सम्बन्धसे तृष्णायें उत्पन्न होती हैं।
(८) सुखकी साधनाके यत्नोमें अनेक भय लगे रहते हैं।
(९) इस सुखकी लालसासे अनेको दुश्मन बन जाते हैं।
(१०) इस सुखसे तृप्ति कभी नहीं हो सकती।
(११) इद्रियसुखकी पूर्ति यत्नमें अनेक प्राणियो के आधीन रहना पडता है।
(१२) इस सुखके लिये अनेक जगह डोलना पडता है।

अतीन्द्रियसुखमें उक्त आपत्तियोमें से कोई भी आपत्ति नही और न रच कोई मलिनता है।

१० अक्टूबर १९५६

किसी भी कार्यकी प्रगति लगन विना नहीं होती। अत जिस कार्यको करनेका दृढ संकल्प किया हो उसे लगनके साथ सपन्न करे।

कार्य व कार्यफल श्रमसाध्य है। श्रम भी स्वयका है वह। वह श्रम चाहे किसी निमित्तको पाकर हुआ हो या विना किसी निमित्तके।

पदार्थमें कार्य व कार्यफल प्रतिसमय होते ही रहते हैं। कार्यका दूसरा नाम है कर्म और कार्यफल का दूसरा नाम है कर्मफल। पदार्थमें कर्म व कर्मफल होता ही रहता है। जिस पदार्थमें जो असाधारण स्वभाव है उसके अनुरूप कर्म व कर्मफल होता है।

पुद्गलमें होती है कर्ममूर्तता, कर्मफलमूर्तता। जीवमें होती है कर्मचेतना, कर्मफलचेतना। पुद्गल किसी भी हालतमें हो चाहे शुद्धपरमाणुकी दशामें हो या स्कन्ध की दशामें हो उसके कर्ममूर्तता व कर्मफलमूर्तता सर्वदा होती रहती है। इसी प्रकार जीव किसी भी हालत में हो चाहेनिगोद हो चाहे मनुष्य हो चाहे अरहत हो चाहे सिद्ध भी हो उन सबके होती रहती है प्रतिसमय कर्मचेतना व कर्मफलचेतना।

19 OCTOBER 1956

Blessed be the Adovoble Vira

Blessed be the Apostle Gautama.

Blessed be the saint Kundkunda

Blessed be the Jain religion

Oh brothers and sisters! I am a boy of five months from point of View of learning this language in which I am speaking.

Last time I began to study the language having learned the Sanskrit grammer the philosophy, the principles and the scripture etc.

One and half month passed, thinking it to be

useless I left learning of English

Again, after two years ago I thought "If I Know English I would succeed to explain the Jain religion to those who are aquainted with English"

Then I continued to learn for one month

Again I left having thought my auspicious goodness can not be at thought other's service, because each man developes and pollutes his own modes"

20 OCTOBER 1956

From some days I was experiencing that the English-knowers are unprejudiced and curious, although they do not observe external character

Their external character can be refined easily

Where ever, when ever, as posible a infellowship with them can be for benefit of both

Having thought this, I contemplated as to whose compassion would make me so capable.

As soon as the comtemplation struck me, the professor Laxmichandra ji came in my vision

It is quite true if professor sahib had not exerted I could not speak now in English

There for thanking him I come to my Subject which is in program to day

But I think that my heart likes to say much

and now time is short.

I hope you all will excuse me for what I shall speak to morrow about "our duty for peace" Om.

21 OCTOBER 1956

Friends !

Each living being likes to be in his peace.

They exert always for the sake of peace

But they to do not attain even little peace "What is the reason" they have not thought Illusion is the only reason due to which they do not perceive the substances as they are

All substances are infinit, but they are of six kinds

Each substance exists as individual and indestructible

That is not substance which appears It is only molecules.

The atoms which are in dividual (although living in the molecules,) whether confined in molecules or unconfind are real substances.

The kinds of entitries are 1 Soul, 2 Atom, 3 Motioncausality, 4 Restcausality, 5 Space and 6 Time causality.

Souls are infinite. Atoms are infinite times the numbers of Souls.

22 OCTOBER 1956

Motion-causality is one Restcausality is one,

Space also is one Time causalities are innumerable.

The above types of all substances are infinite They exiet and modify themselves Modifies itself

Any one does not transform by dint of other things, even if they cause it's modification

Each substance is independent There is no relation among one an other

In spite of the situation, one who appropriates and maintain other things identicaly has to suffer.

The wise attains unparalleled peace, because he has percldved all substances free as they are

We must perclive the abstract characteristics of substances, if we wants peace

Therefore we should understand the substance to be of three kinds, entity a quality and mode

About this I shall say some thing Some time in future Om.

२३ अक्टूबर १९५६

परके प्रति स्नेहभाव दर्शाना ही बन्धन है, विपदा है, शल्य है। स्वयमें इतना मग्न और प्रसन्न रहना चाहिये कि अवकाश ही न मिले परके साथ सम्पर्क रखने की इच्छा उत्पन्न होनेको।

ऐसी निरपेक्ष वृत्ति उत्पन्न हो कि परकी कोई परवाह न रहे इससे बढकर न कोई योग है, न कोई तप है, न कोई उत्थानमार्ग है।

विपदा का मूल कोई भौतिक नही, कोई कारपोरल नही। विपदा का मूल सूक्ष्म, अरूपी एब्सट्रेक्ट भाव है। दृष्टि अन्तरमें दी कि विपदा शान्त, दृष्टि बाहरकी ओर की तो विपदा का पहाड़।

आत्मन्! मान, मान अपना मान मान। अनका मान न मान।

हे निजनाथ ! तुम अद्भुत अपूर्व शक्ति के पिण्ड हो, क्या दशा हो रही है तुम्हारी । परकी आशाके वश होकर बन रहे हो भिकारी विभावकी भूमिका से उठ, अज्ञान की भूमिका से उठ और जुट स्वभावसे जलवामें ।

समय थोडा है, कहने में सुनने में समय गुजारना भला नही, कुछ कर गुजरो । विभाव का आदर न करो । यही बडा पुरुषार्थ है ।

२४ अक्टूबर १९५६

यद्यपि संस्कृत और हिन्दीमें भी नियम पर्याप्त है । तो भी जो कुछ हो मैंने इंग्लिश भाषा पढकर जो जानकारी पाई वह इस प्रकार है —

१—कहा विराम, कहा अर्ध विराम व कहा पूर्ण विराम लगाया जाता है इसका ज्ञान ।

२—समूचे वाक्य तक भी फ्रेस आदि हो जाते हैं उनका विना हिचकिचाहटके तुरन्त प्रयोग का करना ।

३—एक पूर्व वाक्यमें अनेक उपवाक्यो की विशेषतायें ।

४—इन्डायरेक्ट स्पीचका सुन्दर प्रयोग ।

५—विशेषता बतानेवाले वाक्य का विशेष्य शब्द के अनन्तर ही प्रयोग ।

६—प्राय मुख्यवाक्यका पहिले वर्णन कन्डीशनल वाक्यका साक्षात् वर्णन ।

७—कर्ताके बाद क्रिया कहकर विधेयका वर्णन ताकि कर्ता और विधेय का स्पष्ट बोध हो जाय ।

उपरोक्त विशेषतावोके अतिरिक्त अन्य भी लाभ हैं जब इंग्लिशमें केवल यह दोष है कि बोलते कुछ हैं स्पेलिंग कुछ है । सो स्पेलिंग भी अधिक विरुद्ध नही है । कहीं तो उच्चारण की सूक्ष्मता न मालूम होनेसे ऐसा जचता। कुछ जरूर यह परम्परागत यह दोष है । दूसरा दोष अक्षरोका है जैसे कहते वो ह व शब्द से ध्वनित व है, कहते एच है व एच शब्दसे ध्वनित ह है। इन दो दोषोके अलावा गहरी दृष्टि से देखेंगे तो गुण अनेक मिलते है ।

२५ अक्टूबर १९५६

संस्कृत भाषामें इंग्लिशसे अधिक गुण प्रतीत होते हैं —

१—समासकी विशेषता संस्कृतकी सर्वोपरि विशेषता है। सुन्दर अनुप्रास वाले अनेक शब्दोका समुदाय समासमें बडा ही रोचक प्रतीत होता है।

२—भिन्न भिन्न संकेत व अर्थ की द्योतिकायें क्रियायें अनेक मिलती हे निष्पन्न भी और अनिष्पन्न भी।

३—पदके लिये विभक्ति शब्दमें जुड जानेसे अतिसक्षिप्त पद हो जाता है।

४—सधियोके करनेकी विशेषना भी एक उच्च विशेषता है। तो जल्दी बोलने में प्राकृतिक मेल बैठा लेती हे।

५—एक क्रियाको बनाने के लिये अनेक क्रियायें न रखनी पडें एतदर्थ णिजत, यङत, भावकर्मप्रक्रिया आदि से निष्पन्न रूपकत्री एक सुन्दर विशषता है।

६—अनेकविध काल व दशावो की कृति बताने के लिये १० लकारोकी विधि का प्रयोग।

७—सक्षेप व अलकारो की सुंदरता की उत्तम गुजायश उपरोक्त विशेषताओके अतिरिक्त अन्य भी लाभ है जब कि केवल यही कहा जा सकता है कि इसमें इन्डायरेक्ट स्पीच का प्रयोग नही है। सो इसके बिना भी काम अच्छा और ढगमें भी चलता है।

सस्कृत सर्वोपरि उत्तम भाषा हे।

२६ अक्टूबर १९५६

वन्धुवो यह पूर्व अनुभूत हे कि हम सब प्राणी आनन्द चाहते हैं, हम जितना भी प्रयत्न करते हैं वह सब आनन्द के लिये करते है। यहा तक कि जो जीव पाप करते हैं वह भी आनन्दके लिये और जो जीव धर्म करते हैं वह भी आनन्दके लिये। यह सब होने पर आनन्द क्यो नही मिलता, इस पर प्राय विचार नही किया।

वन्धुवर्ग! इसका कारण पदार्थोंके यथार्थ स्वरूप के ज्ञानका अभाव है। हम किसी भी परम्परागत अथवा घटित विश्वासके आधार पर विना कुछ

निर्णय जीवन वहाते जाते है। यदि हमारा आज यह भाव हो गया हो कि मुझे किसीके पक्ष और आकर्षणसे कोई लाभ नहीं है, मै अपने भले के लिये विज्ञानका प्रयोग कर अपना कदम रखूगा तो भैया आनन्द के उन्मुख होजाये।

सत्य आनन्दके लिये हमें क्या करना है इसविषयमें यदि मै सक्षिप्त सार कहू तो यही कहूं कि विशेषकी रुचि न करके सामान्यकी रुचि की जाय। यह सुनकर कुछ भाइयो को अचम्भा हो सकता है क्योकि मोहमें यह परखा जा चुका है कि विशेष अच्छा होता है विशेष आदरके योग्य है, सामान्य तो साधारण है उसकी क्या प्रतिष्ठा !। जैसे कोई विशिष्ट पुरुप आया वडा आदर कोई सामान्य पुरुष आया तो कोई आदर नहीं आदि बातें विचारी जा सकती है।

परन्तु भैया लौकिक अनुभवमें भी देख लो यहा वहुतसे भाव उपस्थित है इनमें जव विशेष दृष्टि जाती है कि ये धनी है, ये पण्डित है, ये आफीसर है, ये सिपाही है, ये क्लर्क है, ये अमुकके अमुक है, ये गरीब है, ये ब्राह्मण है, ये क्षत्रिय है, ये वैश्य है, ये शूद्र है, ये अमुक पार्टी के है, ये काग्रेसपार्टी के है आदि तब स्वय विचार लें कि आत्मा उस समय शाति निस्तरग रहता है या विविध विकल्प व क्षोभो में पड जाता है। आप सोच रहे होगे कि क्षोभ ही उसका फल है।

२७ अक्टूबर १९५६

अव इस ओर सोचें, सभी भाइयोके किसी विशेप तत्त्व पर दृष्टि न दी जावे और केवल एक सामान्यपने की दृष्टि से मनुष्यमात्र ही की दृष्टि वने तो उस समय क्या कोई तरग या क्षोभ हो सकते हैं। यह तो विस्तार की बात कही है अब आयात की ओर चलो और सीधे आत्मतत्त्वकी ओर ही आ जाय। हम आप सव प्रत्येक आत्मा है, द्रव्य है। जो कुछ है वह प्रति-समय अपना कोई न कोई रूपक वनाये रहता है यह पदार्थका धर्म है परन्तु वह रूपक एक समयको होता है और दूसरे समयमें दूसरा हो जाता है। सो वहा भी जैसे मनुष्यसामान्य तो सदा है किन्तु वाल जवान वृद्ध ये अवस्थायें आती है और जाती है इसी तरह हम आप सभी सोचें मै आत्मा सामान्य तो

एक हूं कभी मनुष्य होता कभी पशु बनता कभी देव बनता सो ये सब अवस्थाने है ये विशेष है। जो इन विषयो पर लक्ष्य रखता है इसे ही आत्मा समझता है उसके विकल्प और क्षोभ होते है। जिसकी ये सब अवस्थायें होती है वह एक one and the seine

२८ अक्टूबर १९५६

उसे जो मैं समझता हे वह विकल्प और क्षोभोसे दूर हो जाता है। वह यात्मा मैं सामान्य ज्ञानस्वरूप हू।

भैया इस परमतत्त्व तक जो पहुच जाते है उनकी आन्तरिक क्या स्थिति होती इसे एक प्राकृतगाथासे परखिये–दिट्ठी जदेव णाण जाणइ य इसका स्पष्टीकरण यह है–यथात्र लोके

यह सब सम्यग्ज्ञानका प्रताप है। सम्यग्ज्ञान है जो वस्तु जैसी है उसे वैसी समझना–All substances are indivisible, indestructible, perfect, independent and native existent They are exist and modify themselves, througt themselves, for themselves and in themselves There is no relation among one an other जो महात्मा पदार्थको यथार्थ देख लेते है उनका व्यवहार भी सतोषपरक होजाता है श्री मत्कुदकुददेवने कहा है–णिदियसथुयवयणाणि पोग्गला परिणमति बहुयाकि। ताणि सुणिऊण रूसदि य तूसदि य अह पुणो भविदो इत्यादि–जिसका स्पष्ट अर्थ है–यथेह वहिरर्थो

तुम अपना ही ज्ञान करते व अपना ही सुख भोगते, ४ लडके मौसी के यहा क्या खावोगे बेटा खाते जावो तुम्हारा ही तो माल है। अध्यात्म-ज्ञान की ओर यदि हमारे प्रमुख जन, नेता लोग आफीसर्स आदि बढते चलें तो भारतमें तो शातिका विस्तार होना तो अनायास फल है स्वयकी निधि प्राप्त हो स्वय महान् है।
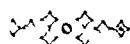
२९ अक्टूबर १९५६

ज्ञान तो पाया और उसके अनुसार नहीं चल पाते यह प्रश्न हर एक

की जीभ पर नाचता रहता है। इसका उत्तर केवल इतना है कि जो ज्ञान पाया उसकी बार बार भावना नहीं करता। वस्तुका जो यथार्थ स्वरूप है वह दृष्टिमें जिसके नहीं रहता वह अनाकुलताका भाजन नहीं हो सकता।

आत्मा चैतन्यस्वरूप है, उसका जानने देखने रूप स्वच्छ स्वभाव है उसमें उसकी स्वच्छताके कारण उपाधि के निमित्तसे कुछ विपरीत परिणमन किन्तु सीमान्तर्गत, हो जाना प्राकृतिक बात है। विभाव बिम्ब होजानेपर भी उपयोग सम्यग्ज्ञानोपयोगके बलके द्वारा उसमें न फसे तो ये औपाधिक आते तो है किन्तु यो ही चले जाते है। जीवका उद्धार सम्यग्ज्ञान ही कर सकता है। ज्ञानकी ही ऐसी अपूर्व महिमा है कि ज्ञानोपयोग में क्लेशका अनुभव नही रहता

हाय बड़ा क्लेश हे, किस बातका क्लेश है, ज्ञात है नहीं क्या बताया जावे। मूल नही सत्ता नही, क्लेश है इस मूर्खताभरी बातको क्या कहा जाये? मूर्खता ही क्लेश है। मूर्खता याने मूढता, मूढता याने मोह, मोह याने सयोग बुद्धि, सयोग बुद्धि याने अज्ञान। लो सब दु खोकी जड अज्ञान निकली। पहाड खोदा, चूहा निकला।

३० अक्टूबर १६६६

नाथ! हम और तुम है तीसरेसे मुझे क्या प्रयोजन है। तीसरे का हम क्यो विकल्प करें। तीसरा बाधक ही होगा साधक नही होगा। सच कहता हू, अन्तर की आवाज है तुम्हीं को ही सुनाना चाहता हू। तीसरा जाने न जाने कोई कुछ माने या न माने। क्या प्रयोजन। मै हू, एक हू, अकेला हू, अकेला ही रहता हे, अकेला ही परिणमूगा। आप तो प्रभु यो हो कि मेरे वीतराग भाव बननेके लिये विषय बनते हो। सोमेरी प्रकृष्ट होनहारके लिये होनेवाले प्रथम उद्यमके आप विषय याने निमित्त बनते हो।

प्रभो! मेरे लिये केवल आप ही रहे तो सर्व कल्याण है। अन्यथा अनेकोका सहयोग, विषय तो मुझे कल्याण के दूर होनेकी प्रेरणा करायेगा।

प्रभो! जिस उपाय हो आप सिद्ध हुए हो वही उपाय हमें करना है। यदि हम करते हे तो आपके सुपूत है, भक्त है। अन्यथा गल्पवादी है।

नाथ तेरी सुध न भूलू और भूलू भी तो तेरेमें, तेरे जैसे स्वरूपमें अनन्य होकर भूल जाऊ ।

सर्वसार यही है, प्रभुभक्ति, आत्मभक्ति । शारीरिक रोग क्षुधा आदि स्वाभाविकतया शान्त होजायगे तब तो यह कल्याण मार्ग और विशद समझमें आवेगा । कुछ अध्यात्मतासे चले तो शारीरिक वाधायें शान्त होना भी प्रारम्भ होगी ।

३१ अक्टूबर १९५६

धर्मप्रभावनाकेलिये जो उद्यम किया जाता है, उसका लक्ष्य भी मनुष्य-जन्मको निष्फल बना देता है । धर्म प्रचारके प्रोग्राममें अपनेको रखना भी उत्तम नही, धार्मिक प्रचारमें रह जाना अनुत्तम नही ।

दु:खका मूल सयोग है । मित्र वन्धुवोका सयोग, जीव व देह का सयोग, जीव कर्मका सयोग, जीवके स्वभाव, विभावका सयोग, विभावमें स्वभावदृष्टिका आरोप ये सभी दु खरूप हैं ।

हाय कितना कष्ट है मोहका कि रातदिन दु खी भी होते जाते हैं व परका सयोग भी नही छोडते । हाय कितना कष्ट है दुर्बुद्धिका कि बिगडते भी जाते दुर्बुद्धिवाले व सुखी भी अपनेको मानते जाते ।

वह परिणमन धन्य है, वह काल धन्य है जहा कलुषताओका अनुभव न हो, ज्ञानमात्रका अनुभव हो ।

वह भाव धन्य है जिसका परिणमन स्वभावरूप हो ।

वह सग धन्य है जहा रहकर परिणामोकी निर्मलतामें उत्तरोत्तर विकास होता रहे ।

वह दर्शन धन्य है जो निर्विकारताका पाठ दे दे ।

१ नवम्बर १९५६

हमारा आचार हमारा रक्षक है, हमारा विश्वास हमारा पालक है और हमारा ज्ञान हमारा तारक है ।

अन्य कोई मेरे लिये कुछ नहीं अत अन्य की ओर उपयोग लगाना मूर्खता है । लक्ष्य निज तत्त्वपर ही रहना चाहिये ।

हम देखते है, हमारे साथी श्री ब्र० चपालाल जी ऐठी थे, उत्तम साथी थे। हमारी हितकामना उनके हृदयमें पूरी थी। कारणवश वियोग होगया और सदाके लिये वियोग होगया। दूसरे साथी ब्र० जीवान द जी वे भी हित-कामनामें अग्रणी थे। वियोग होगया और सदाके लिये वियोग हो गया। वियोग के समय भी वियोग था। दोनोकी तीव्र इच्छा थी कि उनके देहवियोग के समय यह रहे। समयचक्रकी रीति किसी ने नहीं जानी। दोनोके वियोगके समय मे उपस्थित न था।

मै भी बहुत विचारू तो विचारका क्या उटना है। औरोकी स्थितिसे अपना भी अदाज लगा लेना चाहिये।

हाय बाहर देखता तो भ्रम होता। बाहर भीतर देखता तो कोई मेरा शरण नही। भीतर देखता तो यह मै स्वय शरण हू।

हे निजनाथ अब उठो। यह उपयोग तुम्हे आदर से बुला रहा है। तुम्हारी इतनी रीस तो शोभा भी देती है कि यदि उपयोग तुम्हे आदृत न करे तो तुम रिसाने रहो। इससे अधिक रीस जरा भी शोभा नहीं देती।

२ नवम्बर १९५६

आज वर्षायोगका अतिम दिन है, प्रभु महावीर भगवान के निर्वाणका स्थापित दिवस हे, शोकवालोको शोकसे फुरसत पाने के लिये सीमा दिवस है, वैरियो के कडे वैरकी परीक्षाका परीक्ष्य दिवस है, भोगियोके भोगकी आसक्तिका परिचय दिवस है, धधे वालो के धन्धेका शकुनदिवस है, विरक्त-पुरुषोकी निर्मलता का मगलदिवस है, भक्तपुरुषोकी भक्तिका प्रवाहक दिवस है।

वर्षायोग प्रतिक्रमण किया। सामान्यस्वरूप शुद्ध आत्मतत्त्वकी दृष्टि रहता सच्चा प्रतिक्रमण है। दोषोकी शुद्धि स्वरूपावलनपनमें है। बाह्य प्रतिक्रमण मन समझाने और दृढ करने के लिये है। शल्य दूर करने सामर्थ्य बाह्य प्रतिक्रमण में है परन्तु मौलिक सामर्थ्य स्वभावावलम्बनमें है।

गृहस्थ लोग इस दिन बडे खुश रहते है किन्तु करीब करीब उनकी खुशी मोहमूलक है। जिस तरह भगवान महावीर स्वामी मुक्त हुए है, उस

मार्ग पर मेरा दृढ़ कदम हो, यह भाव होवे तो गृहस्थो को आत्मीय लाभ भी हो। गृहत्यागी हम लोगोकी दशा तो ऊट पाद जैसी है न गृहस्थ ही हैं न यथार्थ गृहत्यागी ही हैं। हमें एक वार इस पर गम्भीर विचार करना चाहिये।

३ नवम्बर १९५६

आत्मीय आनन्द ही आनन्द है वह आनन्द ज्ञानका अविनाभावी है, ज्ञान आनन्दका अविनाभावी है।

यद्यपि सर्वविध आनन्द आनन्द गुणका परिणमन है, तथापि जहा परकी दृष्टि रखकर आनन्दका विकास किया जाता है उसे आत्मीय आनन्द शब्द से व्यपदिष्ट नही करते। किन्तु जो आनन्द आत्मस्वभावके अवलम्बन से, आश्रयसे, दर्शनसे प्रकट होता है उसे आत्मीय आनन्द कहते हैं।

आनन्दमें आ नन्द है, आ-समन्तात् नन्दतीति आनन्द जो सर्व ओरसे समृद्धिशाली करे वह आनन्द है।

आनन्द गुण की पर्यायें तीन प्रकारकी है—१. आनन्द, २ सुख, ३ दुःख। जो आत्माको पूर्ण सत्य समृद्धिशाली बनावे उसे तो आनन्द कहते हैं यह अध्यात्मयोगियोको एक देश और परमात्मावो को सर्वदेश प्रकट होता है। सु=सुहावना, ख=इन्द्रिय+जो इन्द्रियोको सुहावना लगे उसे सुख कहते हैं और दुःख माने असुहावना, बुरा तथा ख माने इन्द्रिय। जो इन्द्रियोको असुहावना, बुरा लगे उसे दुःख कहते हैं। सुख और दुःख दोनो आकुलतासे पूर्ण है। जो सुख दुःख दोनोको समान, हेय समझकर आत्मविश्राम करते है। उनके आनन्द प्रकट होता है।

४ नवम्बर १९५६

ज्ञान, जान, यान, भान ये सब आत्मज्योतिके रूप हैं। मोहका सबध हो तो शान बन जाती है व उत्साहका सम्बन्ध हो तो ठान भी बन जाती है। ज्ञान अपना ही कान मानता है आन का कान नही मानता है। ज्ञान स्वयं आनन्दकी खान है। ज्ञानका मान ही ज्ञानका यशगान है। ज्ञानकी पिछान आत्माकी पहिचान है। ज्ञान आत्मा की जान है। ज्ञानही आत्माका यान है जिसपर सवार होकर होता आत्माका प्रयाण है। आत्मा पर विज्ञानका

वितान हो तो ज्ञानका अपमान है। ज्ञानका साधन विज्ञान है किन्तु विज्ञानका वितान नहीं। ज्ञानका ज्ञान सज्ञान है। ज्ञानका थान ज्ञान है, विज्ञान तो ज्ञानका महिमान है। ज्ञानका अनुभवन सत्य अमृतपान है। ज्ञानकी हानसे आत्माकी हान है ज्ञानके ध्यानसे आत्माका ध्यान है। ज्ञानका दान सर्वोत्तम दान है, ज्ञानका निधान सर्वोत्तम निधान है।

आज गोटेगावके प्रमुख बन्धुगण आये, गोटे गाव जानेका अनुरोध किया, स्वीकृति भी हो गई, तिस समाचार के बाद, भाई खूबचन्द जी ने एकान्त में समय मागकर बडी भावुकताके साथ अपनी धार्मिक बात रखी, उनके अनुरोध से जो कल जानेका विचार बनाया, उसे कुछ दिनके लिये स्थगित किया किन्तु गोटेगावका जाना निश्चित रखा। भाई खूबचन्द जी एक धार्मिक और विवेकी पुरुष है।

५ नवम्बर १९५६

परवाह मत रखो किसीप्रकार के आरामकी, परवाह रखो आचरण व चारित्रसुदृढ बनानेकी।

परवाह मत रखो भोजनकी परवाह रखो आत्माके दर्शनकर कर आत्मीय आनन्द पाने की।

परवाह मत रखो चर्मचक्षुओसे किसी रूपके अवलोकन की, परवाह रखो ज्ञाननेत्रसे ज्ञानस्वरूप के अनुभव की।

परवाह मत रखो कानोसे सुहावने शब्द सुननेकी, परवाह रखो उन विशिष्ट अन्तर्जल्पोकी जिनसे आत्मा निर्विकल्प रहने की ओर उत्साहित हो।

भगवानकी पूजा पूजकके निमल भावसे ही होती है, जलय चन्दन आदि द्रव्योसे नहीं। समताभाव, अमल भाव, सहजभाव, निर्मलभाव, अन्तरभाव के अवलम्बनसे प्रभुकी भक्ति होती है।

भक्ति वह है जहा प्रभु और पूजक आत्मा समीप होजायें अर्थात् पूजक के आत्मस्वभाव और प्रभुके विशद भाव का एकाधिकरण पूजक के उपयोगमें होजाय।

अय पुरुषो!, तीव्र गतिसे यदि आत्मोद्धार करना है तो लौकिक जन

संग व महिलासग बिलकुल छोड दो।

जो लोग राष्ट्रीय वहाव के वहाव में धर्मपद्धपि में भी महिला कृपा शीलता का भाव, दिखलानेको महिलाओ के मन लगी जैसी धार्मिक बात कहते है उनकी स्थिति मात्र नेता तक की रह जाती है।

६ नवम्बर १९५६

धर्मके लिये करना क्या है ? केवल स्वभावदृष्टि ? धर्म के लिये जाना कहा है ? अच्छा कहा जावोगे ? तुम्हारे तो पैर भी नहीं है। हा उपयोगसे जावोगे। तो अच्छा सुनो—धर्मके लिये जाना कहा है ? निजस्वभाव में। निजधर्म निजस्वभाव है। वस्तुधर्म वस्तुस्वभाव है। आत्मा भी एक वस्तु है। सर्वकल्पनायें छोडकर एक चैतन्यस्वभावकी दृष्टि करो, सर्व कुछ तुम्हे प्राप्त होजायगा। यान किसी कुछ की भी तृष्णा व आकुलता न रहेगी।

किसका कहा कौन है ? सर्व वस्तु स्वचतुष्टय मय है। एक अणुका दूसरा अणु कुछ लगता ही नही। किसका क्या होगा।

ससारभाव सभी दु:खमय है। परका सयोग ही सारा दु:ख हे किन्तु मोही सयोगसे ही सुख और हित मानते हैं। इसीसे वे घोर दु खी हैं।

आत्मन् तुम चेतन हो, विशिष्ट नही, सब जैसे सामान्य हो, सो अब तुम्हारा नाम ही क्या रहेगा। तुम्हारे नाम तो इनमें हो सकते हैं—चेतन, आत्मा, जीव, ब्रह्म, ज्ञायक। सो देखलो—कहीं नाम लिखना खुदाना हो ये लिखो। सभी से यही कहना ह क्योंकि सभी के ये नाम है। साची बात मान लो। तुम्हे यह ख्याल होगा यदि कि इन नामो से तो हमारा नाम होता नही, तो तुम्हीं बतावो—जो तुम नाम बतावोगे, चाहे इन्ही नामो में कुछ शब्द जोडकर जैसे चेतनलाल, जीवानन्द आदि हो या अन्य प्रकारके नाम हो वे सब कुछ भी तुम्हारे नाम नही है वे अन्य जड पर्यायोके हैं। भिन्न पदार्थोके नामो की प्रशसा से तुम्हारी अटकी क्या हे।

७ नवम्बर १९५६

करो परकी भी प्रशसा करो, मगर पर को पर समझते हुए, परकी प्रशसा कर रहा हू ऐसा सोचते हुए करो, हम तुम्हारे प्रतिकूल न कहेंगे।

किन्तु परकी प्रशसाको आत्मप्रशसा मान से हुह करोगे तो वह अच्छा नही है।

आज गोटे गाव वाले तिबारा आये और आये दृढसकल्प करके कि ले जायगे या यहीं रहेगे। उनके इस सकल्पके आगे मै भी अन्य कुछ क्या कर सकता हू। कल प्रात काल चलने का निर्णय हुआ आज जाना पहिले से स्थगित किया था। यदि न भी किया होता, तो भी जाना कठिन था। कारण आज अचानक ही १२ बजे दोपहर को कस्तूरी बाई जी जिसने कि गत वर्ष ही पञ्चकल्याणक किये थे। स्वस्थ हो गई। बाई जी का परिणाम निर्मल था। उसकी अर्थी में यहा के बहुत जैन बन्धु जा रहे हैं। मरण उसका अच्छा हुआ, इसकी सर्वत्र प्रशसा हो रही है। धन्य है उन आत्मावोको जिनका मरण समाधिपूर्वक हो जाता है।

८ नवम्बर १९५६

आज ८ बजे प्रात यहासे चलकर ४ मील पर मढिया आये। राम लाल जी हनुमानताल वालोके आहार हुआ। मढियाका स्थान उत्तम है। किन्तु लोगोकी दृष्टि प्राय नाम खुदानेपर है अत ज्ञान विचारेकी पूछ ही नहीं सी है।

जीव का उद्धार, कल्याण मात्र आत्मज्ञान है क्योंकि उसकी प्रतीति, ज्ञप्ति, स्थिरता ही रत्नत्रय है यही मोक्षमार्ग है।

मनुष्य जन्म एक सुयोग अवसर है इसकी सफलता ज्ञानविकास में ही है। अन्यथा मरणके बाद कुगति होगई तब मनुष्यजन्मका क्या उठा व उठेगा, धेला जितना भी नहीं।

गोटेगाव वालोकी अधिक लगन ही जबलपुरसे लेजाने में कारण बनी है उनका सामूहिक रूप में ५ दिन का बना रहता व यत्न करना प्रमाण को स्थिर कर सका है। क्योकि जबलपुरके प्रमुखो के विचारित लम्बे प्रोग्राम और उसके लिये किये जाने वाले आग्रहका सामना हर एक कोई झेलनेमें असमर्थ था।

मढियासे दुपहरको १ बजे सहजपुरके लिये चल दिये ९ मीलपर जाकर विश्राम हुआ। प्रो० लक्ष्मीचन्द जी भी जिनका कोमल और दिमागी जीवन

है साथ चले यह काम उनका उत्साह ही कर सका। इसी प्रकार खूबचन्द जी भी जिन्हे अपनी मढियोके कारण फुरसत भी किसीकी बात सुनने तक की भी नही साथ चले यह भी उनके किसी विचार से ही सपन्न हुआ। साथके सभी गृहस्थ थक गये थे किन्तु उत्साहित अधिक थे।

कोई प्राणी किसीका कुछ नही करता सब अपने अपने भावोकी परिणति करते है। मोह में जीव सयोगबुद्धि कर लेता है। रात्रिको निवास स्थान पर ग्राम प्रवचन हुआ। अजैन वन्धुवोका उत्साह अन्यसे कम न था।

९ नवम्बर १९५६

आज प्रात ६॥ बजे शहपुराके लिये चले ६ मील चल कर शहपुरा पहुचे। लोगोका उत्साह धर्मप्रेम का बता रहा था।

यहा सि० धनपतलालजी के आहार हुआ—आहारोपरान्त उन्होने २५०) दानमें बोले जो शहपुराकी ही जैन पाठशालाको दिला दिये।

शहपुरासे दुपहरको २ बजे चले और शाम को ५ बजे करीब ८ मील पर विक्रमपुर पहुचे।

कोई किसीका काम कुछ करता ही नही है प्रत्येक आत्मा केवल अपना ही भाव कर सकता है। जब आत्मा भाव ही कर सकता हे और आत्मा भावका ही परिणाम भोग सकता है,—तब भावमें दरिद्रता करनेसे वढ कर और मूर्खता क्या हो सकती हे। किसीका बुरा विचारना, विरोध रखना, द्वेष रखना, घृणा करना, विषयकी आसक्ति रखना आदि भावकी दरिद्रता हे। भावकी दरिद्रता महापाप है। कुछ उस बिना अटका भी नही फिर भी मोहमें प्राणी को विपरीत ही सूझता है,—जैसे पीलिया रोगीको सफेद भी पीला सूझता है।

चाहते तो प्राय विवेकी सज्जी यह ही हैं कि क्रोध न आवें अन्य कषायें भी न हो, किन्तु इसके लिये कितना भी प्रयत्न कोई करले यदि आत्म-ज्ञानसम्बन्धक यत्न नही है तो उसमें सफलता असभव है। कदाचित् कषायकी मन्दता आजावे तो भी वह मन्दता धोखेसे खाली नहीं है। वह स्थिति राखमें ढकी हुई अग्निकी स्थिति जैसी है।

१० नवम्बर १९५६

आज प्रात ६। बजे से चलकर ९।। वजे गोटे गाव सभामंडप में पहुचे। २।। घण्टेमें ८ मील चल लिये किन्तु गोटे गावके बन्धुवो की उमगोके कारण गोटेगावका आधा मील ।।। घण्टेमें तय कर सके।

कोई पुरुष किसीका कुछ नही करता सर्वकेवल अपने भावका परिणमन करते।

यहा जैन अजैन समाजमें समान उत्साह दिखा। यदि हम त्यागियोका भी आहारशुद्धि व ध्यानशुद्धि की पालना रखते हुए समान व्यवहार होजावे तो जैन अजैनमें सर्वत्र करीव करीव एकरुपता आ सकती है।

लोग वस्तुस्वरूपके ज्ञान विना सयोगबुद्धि करते हैं, जिसके कारण उन्हे आकुलता ही हाथ रहती है।

वस्तुकी स्वतत्रता ज्ञात होजाने पर आकुलता रहती ही नहीं है। क्योकि दूसरेसे दूसरेका कुछ हो ही नहीं सकता। यह यथार्थता समझमें आचुकी।

जैसे कोई बीमार है वह जब तक बीमार पडा, विविध विकल्प और चिन्तायें होजाती हे। मरण होजाने पर वे सब चिन्तायें गायव हो जाती हे क्योकि एक निश्चय हो चुका कि वह तो मर ही गया।

११ नवम्बर १९५६

शाति अध्यात्ममें ही प्राप्त होती है इस स्थितिके लिये अध्यात्मवोध चाहिये। अध्यातमबोधके लिये वस्तुस्वरूपका ज्ञान चाहिये। वस्तुस्वरूपके ज्ञानके लिये वीतराग ऋषियोको वाणीका अध्ययन चाहिये। उस अध्ययनके लिये अपेक्षित गुरूसमागमके अतिरिक्त स्वयका मौलिक सदाचार भी चाहिये। मौलिक सदाचार करने योग्य ये हैं—

१ मद्यत्याग— शराव आदि नशीली वस्तुओका सेवन न हो। मद्यसेवन से बुद्धि मारी जाती है।

२ मास त्याग—मास खाने का त्याग। मास सेवनसे हृदय की क्रूरता वनती है व भौतिकमें ही वुद्धि चल सकती है।

३ मधुत्याग —शहद खाने का त्याग हो। मधु सेवनसे कामाशक्ति, मोह की प्रबलता होती है।

४ उदम्बरत्याग—काठ फोडकर निकलनेवाले फलोंका त्याग। उदम्बर-सेवनसे, मांसभक्षण का दोष लगता है।

५ रात्रिभोजनत्याग—रात्रिको भोजन नहीं करना। रात्रि भोजनसे बुद्धि अध्यात्मके विरुद्ध होती है, + मांसभक्षणका भी दोष लगता है। बुद्धि पैशाचिकी हो जाती है।

६. जीवदया —शिकार, प्राणिपीडा का त्याग करना। जिसे आत्मदया होती है वह परकी अदया का भाव नहीं करता।

७ देवदर्शन- प्रतिदिन परमात्माकी भक्ति करना। इससे आत्मकी सावधानी दृढ होती है।

८. जलगालन- जल छानकर पीना। इससे बुद्धि और हृदयमें कोमलता होती है, कोमल हृदय अध्यात्म को झेलता है।

१२ नवम्बर १९५६

गोटेगांव एक भव्य ग्राम है। यहां कलता विरोध नजर नहीं आता। पं० रतनचन्द जी, ज्ञानचन्द जी, गोकमणि जी आदि विद्वान् योग्य पुरुष हैं। सि० मुन्नीलाल जी नरसीलाल जी, लक्ष्मीचन्द जी, बाबूलाल जी, मानिकचन्द जी आदि सभी लोग उपस्थित हैं।

शास्त्र अनेकों बार प्राय सभीके सुननेमें आते हैं किन्तु शास्त्र सुनकर पूरा अवधारण करनेकी क्षमता उसके ही होती है जो उस विद्या को विद्यार्थी की भांति कभी पढ चुका है। उस योग्यताका उपार्जन किये बिना वक्ताओंकी तिरस्कारपूर्ण बातें सुनने को ही मिलेंगी तथा उपदेश का आनन्द भी प्राप्त न होगा। अतः विविध ग्रन्थों के ज्ञान समझने की योग्यता अवश्य उत्पन्न कर लेना चाहिये। यह एक वर्ष या ६ माह में ही प्राप्त हो सकता है। किन्तु इस योग्यता को पाये बिना लोगों क्योंकि शास्त्र श्रवण द्वारा सन्तोष जनक प्रगति होना कठिन होगी।

विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्। किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या।

१३ नवम्बर १९५६

सच्ची आत्मोन्नति चाहना है तब समस्त पर पदार्थोंका राग व ममत्व छोड़ देना चाहिये। यदि इन विभावोंके विपरीत थोड़ा भी चले तब विपत्ति ढग व विपत्ति बन जावेगी।

आत्मन्! अपनी शक्ति सभालो। करो पुरुषार्थ ऐसा कि परमाणु मात्रसे भी परमाणु मात्र मोह न रह सके। अपना मन्दिर है तो कुछ है भी नहीं, अपना मानने का भ्रम करके क्यों क्लेश सह रहे हो। तुम अकेले ही हो तब अकेले पनमें सन्तोष करो, अकेले शुद्ध को ही सोचो। अन्य सबका चिन्तवन ही मिटा दो।

अनेक भवों में अनेक प्रसंग तो आये, अनेक समागम तो मिले अन्तमें अब परमाणु मात्र भी न रहा। इससे ही निश्चय करलो कि वर्तमानका भी कुछ साथ न जावेगा।

इस ही भवमें तो देख लो जो अब परिणाम कर रहे हो वह परिणाम अभी दूसरे समयमें नहीं रहनेका है, फिर इस वर्तमान परिणाममें विह्वल होकर क्यों अपना नाश कर रहे हो यह विह्वलता का परिणाम या जैसा भी विभाव परिणाम है वह रहनेका तो है नहीं, जो रहनेका तो है नहीं और उसका राग करते हो तो इससे बढ़कर अन्य कोई मूर्खता मानी जा सकती है? बताओ।

१४ नवम्बर १९५६

हे निज प्रभो वह समय जल्दी पावो जहा तुम ही तुम रहो, विकल्पोंका बखेडा सब समाप्त हो जावे। अहा! सर्व सम्पदा यहीं है, सर्व आनन्द यहीं है। छोडो समस्त विकल्प जाल। विचारो मत कुछ भी। अच्छा सोचो किसे सोचते जिसे भी सोचते, बतावो तुम्हारे साथ चलेगा? बतावो तुम्हारी परिणतिसे परिणम जावेगा या वह अपनी परिणतिसे तुम्हे परिणमलेगा? कुछ होना जाना नहीं है। सबको रहना है और रहना है अपने सत्त्वसे। सबको बने रहना और बने रहना है अपनी अपनी परिणति से परिणम परिणम कर। ओ हो! मेरा मेरे प्रदेशो से बाहर कुछ भी नहीं है, कुछ भी नहीं होना

है। अत कुछ भी मुझे इष्ट नहीं है। सब अपनी अपनी जगह रहो। मेरा भाव ही नही है कि कोई अपना स्थान छोड मेरे से रिश्ता लगाले और न यह भाव है कि मै अपना निज स्थान छोड बाहर में किसी वस्तुसे रिश्ता लगाऊ ? क्योकि वस्तु सर्व स्वतन्त्र हे ऐसा पूर्व सम्यग्वोध हो गया। अब ताकत ही नही है कि किसी को अपना मान लू।

१५ नवम्बर १९५६

विधेय—-प्रोग्राम

प्रात·	४	से	५	आध्यात्मिक स्वाध्याय व स्तोत्रपाठ
	५	,,	६	सामायिक
	६	,,	७।	देवदर्शन, पर्यटन शौचनिवृत्ति
	७।	,,	७॥।	आसन श्रम
	७॥।	,,	८/१०	भजन, सगीत, भाषण श्रवण या इगलिश शब्द पाठ
	८/१०	,,	८/५०	प्रवचन
	८/५०	,,	९/१०	भाषण श्रवण या सामाजिक वार्तालाप
	९/१०	,,	९/४०	करणानुयोग स्वाध्याय
	९/४०	,,	९/४५	शुद्धि
	९/४५	,,	११॥	चर्या, विश्राम
	११॥	,,	१२॥	सामायिक
	१२॥	,,	१	डायरी लेखन
	१	,,	२	इग्लिश लेखन
	२	,,	२॥	सस्कृत लेखन
	२॥	,,	३	हिन्दी लेखन
	३	,,	३॥	पत्र या अवशिष्ट लेखन
	३॥	,,	४	पाठन
	४	,,	४॥।	शका समाधान
	४॥।	,,	५।	विश्राम, पर्यटन, विशेष वैयावृत्य

५। से ६।		सामायिक
६। ,, ७		आध्यात्मिक पाठ
७ ,, ८		इगलिश अध्ययन
८ ,, ८/२०		सगीत या भाषण
८/२० ,, ६		प्रवचन
६ ,, ६॥		सामाजिक कार्य
६॥ ,, ४		ध्यान, विश्राम, शयन ।

१६ नवम्बर १६५६

गोटेगाव—आज मानिकचन्द जी के आहार हुआ, इन्होंने किसी प्रकार उपयोगकापता लगाकर आहारोपरान्त १७४) की इगलिश डिक्शनरी दी। इनके पिता इस गावके वयोवृद्ध धर्मात्मा हैं। यहाके नवयुवकोका धर्मानुराग व स्वाभाविक सगठन अच्छा है।

वस्तुस्वातन्त्र्यके परिज्ञान विना बाकी सब ज्ञान बिलकुल अधूरा है। कषायका परित्याग जो शाति का मूल आधार है, आत्मज्ञानविना हो सकता नहीं। धर्म का प्रारम्भ आत्मज्ञानबिना हो सकता नहीं। वस्तु है तो स्वतन्त्र ही है, कोई भी आत्मा, कोई भी अणु किसी अन्यके आधीन नहीं है। जो पुरुष अपनेको पराधीन समझता है वह भी अपनी स्वतन्त्र परिणतिसे ही पराधीन मानता है। पुत्र अपना विचार मानता है पिताका कहना नहीं। स्त्री अपना विचार मानती है पति का कहना नहीं। पति अपना विचार मानता है स्त्रीका कहना नहीं। यह बात दूसरी है कि वही कहता है और वैसा ही विचार बने अथवा किसी स्वार्थवश या प्रतिष्ठा व कर्तव्यवश वैसा विचार बने। यह तो जीवो की बात है। अचेतन पदार्थोंमें भी किसी वस्तुका किसीमें असर नहीं पहुचता। असर पहुच का जो जीवोंको भ्रम है वह निमित्तनैमित्तिक भाव की वृत्ति से है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य क्षेत्रकाल भाव रूप है। वह पदार्थ इसी कारण है कि वह अपने ही चतुष्टयसे रहता है परके चतुष्टयका प्रसग तीनकालमें भी नहीं हो सकता।

१७ नवम्बर १६५६

जब विशेषकी ओर दृष्टि डाली जाती है तो कुछ न कुछ क्षोभ और विकल्प उत्पन्न होता है। विशेषसे हट कर ज्यों ज्यों सामान्यकी ओर दृष्टि होती जाती है क्षोभ और विकल्प समाप्त होते जाते हैं।

लौकिक बडे से बडा बन जानेपर भी वास्तविक बडा होना होता है जिसे वह पाये हुए विशेयोको छोडकर सामान्यकी ओर आता है। आनन्दकी उत्कृष्ट स्थिति वह ही है जहा विकल्पका लेश नहीं रहता याने परम समाधि-दशा होती है।

सामान्य सदा है वह एक रूप है। विशेष अनेक रूप है अतः सदा नहीं रहता। एक समयकी स्थिति विशेषकी है। विशेषकेबाद विशेष होते चले जाते है किन्तु कोई भी विक्षेप दूसरे समयमें ठहरता नहीं है।

जो कल्याणका प्रमुख सावन है, कल्याणके लिये जिसका अवलम्बन आवश्यक है, कल्याण का जो स्रोत है वह सदा हममें ही राजमान है।

यह जगत्का हास्यास्पद बर्तन है कि जो सदा शान्त एकरूप सहज स्वयमें है उसकी रुचि नहीं करता और जो क्षणिक, अशान्त, अनेकरूप सहेतुक है उसकी पकड कल्पनामें बनाये रहता है।

ज्ञान अज्ञान का इतता ही निर्देशक मर्भ है ज्ञानीके सामान्यका अवलम्बन है। अज्ञानीके विशेषका अवलम्बन है।

१८ नवम्बर १६५६

वस्तुकी स्वतन्त्रताकी दृष्टि ही माता है, अम्बा है। स्यादस्ति स्यान्ना-स्ति की प्रतीति सम्यग्दर्शन है। परमात्मा व निजात्माके साम्यकी प्रतीति सम्यग्दर्शन है। प्रत्येकके उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् ही प्रतीति सम्यग्दर्शन है। निजदर्शन ज्ञान चारित्राणिकी प्रतीति सम्यग्दर्शन है। निजको निजके द्वारा निजके लिये निजसे निजमें दर्श लेना सम्यग्दर्शन है। सम्यक् को सम्यक् के द्वारा सम्यक्के लिये सम्यक्से सम्यक्में दर्श लेना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन ही एक मात्र वैभव अपना है। यह ही आनन्दका मूल है।

सासारिक वार्ताओका निमित्त कर्मका उदय है, मुक्त याने स्वतन्त्र

होनेका निमित्त उक्तनिमित्त का अभाव है। विभाव परिणति सहेतुक है स्वभावपरिणति अहेतुक है। सत्य वह है जो सत् में ध्रुव है शेष असत्य है।

निजको निज परको पर जान। फिर दुःख का नहिं लेश निदान। जो निजकी ओर चलता है वह महात्मा है, अन्तरात्मा है, जो परकी ओर चलता है वह पुरात्मा है, वहिरात्मा है। जो चलता कही नहीं किन्तु जैसा स्वभावत है वैसा ही रह जाता है वह परमात्मा, शुद्धात्मा, सिद्धात्मा, मुक्तात्मा है।

१६ नवम्बर १६५६

जीवकी अवस्थायें तीन हैं और उनमें रहनवाला वही जीव है। इस दृष्टि से उन उनके बारेमें कौन कौन नाम प्रसिद्ध है इस पद्धतिसे नाम कुछ इस प्रकार हैं—

वहिरात्मा	अन्तरात्मा	परमात्मा	आत्मा
दुरात्मा	महात्मा	शुद्धात्मा	सदाशिव
जागृति	सुषुप्ति	अन्त प्रज्ञ	तुरीयपाद
तम	रज	सत्त्व	पुरुष
मन	जीवात्मा	मुक्तात्मा	ब्रह्म
माया	योग	मुक्ति	ईश्वर
अशुभविकार	शुभविकार	निर्विकार	अविकार
पाप	पुण्य	शुद्ध	शुद्धशुद्ध
विभावगति	स्वभावगति	स्वभाववृत्ति	स्वभाव
मिथ्यादृष्टि	सम्यग्दृष्टि	भगवान	निरञ्जन
अ	उ	म्	परात्मा
दासोऽहं	सोऽहं	अहं	अलख
द्विष्ठ	स्वस्थ	स्व	चेतन
अज्ञानी	ज्ञानी	ज्ञाता	ज्ञायक
अशुभोपयोग	शुभोपयोग	शुद्धोपयोग	चैतन्य

इन चार तत्त्वोमें प्रथम तो हेय है द्वितीय तत्त्व तृतीय तत्त्व पानेका उपाय है। तृतीय तत्त्वके यथार्थ विज्ञानसे तुरीय तत्त्व का जानना सुगम है।

तुरीय (चतुर्थनम्बरके) तत्त्व का प्रतिभास निर्विकल्प समाधिका कारण है। निर्विकल्प समाधि परम हित है।

२० नवम्बर १९५६

अध्यात्म की स्थिति में वाद नहीं है तथा वाद की स्थिति में अध्यात्म नहीं है, अध्यात्म वाद तो हो सकता है किन्तु अध्यात्म वाद नहीं है अत. अध्यात्मवाद व्यवहार है, अध्यात्म निश्चय है।

जैसे कोई नमककी पुतली सागरमें गोता लगायें किसीको कुछ कहना चाहे तो वह असत्य है क्योकि गोतामें पुतली घुल गई सर्वांग सागर हो गया अब कैसे बोला जाय इसी प्रकार कोई अध्यात्ममें गोता लगाये हुए क्या बोले। वह तो अध्यात्ममें घुल गया है।

जब अध्यात्म स्थिति है वहा केवल बोल ही बन्द नही है इसके साथ पाचो इन्द्रियोकी वृत्ति बन्द होजाती है। मनका व्यापार भी समाप्त हो जाता है। अध्यात्मका स्वाद तो अतुल है किन्तु है अवक्तव्य।

अध्यात्म का नाम इतना ऊचा है कि प्रत्येक वक्ता को उनमेंसे चाहे कोई अध्यात्मकी गन्ध भी नहीं जानता हो तो भी अध्यात्मकी उपादेयतारूप वचन कहना ही पडते क्योकि अन्यथा उनका भाषण सफल नहीं माना जाता।

जैसे मोहके कार्य विवाहादि प्रसगो में समय समय पर मदिरजाना पूजा करना आदि धार्मिक सग न रखा जावे तो वह उत्सवसा ही नही लगता वैसे ही लौकिक भाषणोमें भी अध्यात्मवाद की कुछ बात नहीं रखी जावे तो वह भी भाषणसा नहीं लगता।

२१ नवम्बर १९५६

स्नेह का आदि वचन है, अधिक स्नेहके वचन, दूसरी ओरसे अधिक स्नेहके निकल सकते है तब वे वेधन के कारण हो सकते है, अतः अपनी ओरसे अधिक स्नेह के वचन या अधिक वचन नहीं कहना चाहिये।

जगतमें वन्धन मात्र स्नेह है। शरीरका स्नेह, प्रतिष्ठाका स्नेह, मित्र का स्नेह, परिवारका स्नेह, विषयका स्नेह, कषाय का स्नेह आदि सभी वन्धन है।

स्नेह मिटनेका उपाय सिवाय चैतन्यस्वभावकी दृष्टिके अन्य कुछ नहीं होता।

चैतन्य स्वभाव की दृष्टि से च्युत हुए तो स्नेह को आना ही पडता है। उस समय अपने आपसे द्वेष कर रहा है। किसीका द्वेष किसीके स्नेह रूप है, किसीका स्नेह किसीके द्वेषरूप है।

आत्माको सन्मार्गमें रखनेके समान उत्तम भवितव्य अन्य कुछ नहीं है।

आत्माको कुमार्गमें लेजानेके समान दुर्गमन अन्य कुछ नहीं है।

२२ नवम्बर १९५६

पुण्यका जिन जिनके उदय हुआ क्या हुआ सो पढ लो सीताजी का पुण्यथा वचपन से अन्त तक गृहस्थी में क्लेश ही क्लेश पाया। रामचन्द्रजी के पुण्य था वालपन से अन्त तक गृहस्थीमें क्लेश ही क्लेश पाया। हनुमानजी की मा अञ्जनाके पुण्यथा कितने भयकर दु ख पाये। आजकल की भी वात देखलो महात्मा गाधीके पुण्य था अन्त तक दु ख ही दु ख रहा। यह बात आत्मबलकी हे उक्त सभी आत्मा अन्तरग में निराकुल और सतुष्ट थे। किन्तु पुण्यकी ओरकी बात देखो तो पुण्य दु खका कारण बना। अनेको दृष्टान्त इस प्रकार समझलें। पुण्यभी दु खका हेतु है व पाप भी दु खका हेतु है। कहो पापके उदयमें जीव समल जाय पुण्यके उदयमें जीव वह जाय। सप्तम नरकके नारकी के पापका उदय घना है, रहता है, रहो फिर भी अनेक नारकी सम्यक्त्वको जो कि शाश्वत आनन्दका मूल है, प्राप्त कर लेते हे। सुकुमार मुनीश्वर, गजकुमार मुनीश्वर, सुकौशल मुनीश्वर आदि अनेक साधु महात्मावोके जो उपसर्ग हुआ वह पापका ही उदय समझना, तिस पर भी वे आत्मबलके कारण अन्तरंग में अनाकुल और सत्य सतुष्ट थे। यह भी पाप की करामात नहीं किन्तु आत्मवल की करामात है। पाप पुण्य तो दोनो दु खके हेतु हं।

२३ नवम्बर १९५६

आत्माको करनेको कोई काम न रहे याने वेकार रहे तो अन्य प्रकार के विषय कषायकी वात सूझने लगती है अत उपकारके कामोकी खोज करना पड़ती है तथा उनका प्रारम्भ करना पड़ता है। किन्तु आत्मन् यदि तुझे उच्च

उन्नति दशा पानी है तो इन बाह्य का अवलम्बन भी छोड । यह न समझ कि मेरे लिये कोई काम करने को नहीं है । तुझे करनेको बहुत काम पडा है और वह यह है—कि किया कर आत्मस्वरूपका ध्यान और भजाकर परमेष्ठी का स्वरूप, विशेषतया अरहत सिद्धका ध्यान ।

बाह्य कार्य के प्रसग में भी तो तू बाह्य कुछ नहीं करता है केवल अपने उपयोगका परिणमन करता है सो इस अपूर्व निज कार्यके प्रसंगमें भी तुझे अपने ही उपयोगका कार्य करना है । बाह्य प्रसंगवाले उपयोगके कार्य में तो उपयोगका वह कार्य कम दर्जेका और ससार वन सुगम है—अल्प है किन्तु निज प्रसग वाले उपयोगके कार्यमें उपयोग का वह कार्य विशिष्ट दर्जेका और नव्य अपूर्व होनेसे विशिष्ट पुरुषार्थ साध्य है, बडा है । सो इसका ही लक्ष्य रख— कि सर्द अवलम्बन आश्रय वाला कार्य न करके निरपेक्ष, स्वतन्त्र निजभावना, शुद्धात्मभावना के कार्यमें निरन्तर जुटा रहू ।

२४ नवम्बर १९५६

परवस्तुका समागम कारण वन सकता तो विभावका । स्वभाववृत्तिके लिये परवस्तुके समागमकी आवश्यक्ता, प्रतीक्षा ही नहीं चाहिये ।

आत्मन् ! अपने को वना अत्यन्त निरपेक्ष । न वना पावेगा निरपेक्ष तो बडी भारी भूल होगी समझना । साथ उपयोग रहेगा, बाह्य वस्तु यहा ही रह जायेंगी । अतः निरपेक्ष वन, सर्व विकल्प छोड ।

प्रतिष्ठा, कीर्ति से न वर्तमानमें लाभ, न भविष्य में लाभ । यदि ज्ञानी है तो प्रतिष्ठा से उसका राग नहीं प्रतिष्ठासे लाभ उसे क्या । यदि अज्ञानी है और उसकी प्रतिष्ठा भी होती है तो उस प्रतिष्ठा से अज्ञानी लाभ तो क्या पाता उल्टा कर्मबन्ध व अध्यवसान से बन्ध जानेकी हानि ही भोगता है । भविष्यमें तो कुछ यहाका रहना ही नहीं है, भविष्यका लाभ ही क्या है ।

अपने आपके स्वरूप को सभाल लेना महापुरुषार्थ है । इस पुरुषार्थ वाले के सर्व अर्थ की सिद्धि है । सिद्धि वह कहलाती जहा इच्छाकी पूर्ति होजाती । इच्छाकी पूर्तिका अर्थ है इच्छा का न रहना । आत्मसावधानी के इच्छा है नहीं अत उस के सर्व अर्थकी सिद्धि समझना चाहिये ।

अपना कार्य करलो, मनुष्य जन्मकी सफलता करलो।

२५ नवम्बर १९५६

ज्ञान तो प्राय सबको होता है किन्तु प्रतीति न होने के कारण ज्ञान रह जाता है, काम नहीं आपाता है। सर्वोपदेशका सार इतना है—कि रागी कर्मको बाधता है, विरागी कर्म से छूट जाता है अत रागी न होना चाहिये विरागी रहना चाहिये।

अब इसके करनेका मार्ग तभी प्राप्त होता है जब भीतर विरागता आनन्दका मूल है यह आस्वासन एक बार भी होजाय। इसे कहते हैं स्वानुभव।

स्वभावानुभव विना आत्मोन्नति असभव है। स्वभावानुभव के लिये स्वभावका ज्ञान आवश्यक है, स्वभावज्ञान परमशुद्धनिश्चयनय जैसे ज्ञान द्वारा साध्य है। परमशुद्धनिश्चयनयके बोधके लिये पहिले स्वपर्यायनिश्चयनय जानना आवश्यक है। स्वपर्यायनिश्चय २ प्रकारका है अशुद्धनिश्चयनय, शुद्धनिश्चय। अशुद्धनिश्चय तो इस प्रकरणमें जीव की अशुद्धपर्यायको जीवसे होना देखता है और शुद्धनिश्चय शुद्ध पर्यायको जीवसे होना देखता है। जब स्वपर्याय-निश्चयनयद्वारा एक ही आत्मा और उसके पर्याय की ही दृष्टि रहती है और रहती है दृष्टि इस प्रकार कि पर्याप गौण होजाती है व द्रव्य मुख्य हो जाता है उस समय द्रव्य ही ज्ञानमें रह जायगा। पश्चात् द्रव्यका भी विकल्प छूटकर स्वानुभवमें आ जावेगा।

२६ नवम्बर १९५६

आत्मा स्वत आनन्दमय है, इसके आनन्द का घातक उपादान से मलिनता याने भावकर्म है और निमित्तिसे कर्म, नोकर्म है। जिस शरीरको जीव सुखका अनन्य कारण समझता है, दु खका मूल वही शरीर है। आत्मा एक भिन्न पदार्थ है और शरीर भिन्न अनेक पदार्थ है। आत्मा अपनेमें उपयोगी रहे तो अत्यन्त अनाकुल, परमानन्दमय होता है। अपने उपयोगसे चिगा कि बाह्य का कुछ न कुछ ख्याल आ ही जाता है। उन बाह्योंमें सबसे अधिक सम्पर्क वाला बाह्य पदार्थ शरीर है। शरीरकी वुद्धि रख कर हो तो जगत

काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि से मलिन होता है और पतित होजाता है। भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, रोग आदि वेदनाओ का कारण यह शरीर ही तो है। सर्व आपत्तियों का कारण यह शरीर है। भावोकी मलिनताका कारण यह शरीर है, बाह्य आपत्तियोका कारण यह शरीर है। निन्दा, प्रशसा, अपमान आदिके अनुभव शरीर के स्नेहसे ही होते है। माया, मिथ्या, निदान का कारण शरीर ही बनता है। इनके अतिरिक्त शरीर कोई पवित्र वस्तु भी तो नहीं है। नव द्वार मल के इसी में तो है। निरन्तर अपवित्रता इसीसे तो बढती है। विष्टा, मूत्र, नाक, लार, कफ, थूक, कीचड, पसीना, कनेऊ आदि मल इसीसे तो झरते है। मास, हड्डी. खून आदि घिनाववी वस्तुवो का यही तो पिन्ड है। यह शरीर अनुरागके लायक बिलकुल नही है। गले पडे बजाये सरे की बात अन्य है।

२७ नवम्बर १९५६

प्रत्येक मानवको वह चाहे गृहस्थ हो या साधु या ब्रह्मचारी अथवा पडित, मूर्ख, धनी या गरीब सभीको कोई न कोई ग्रन्थ विद्यार्थी की भाति पढना चाहिये। पढनेके ध्येयसे, गुरुके पास जानेके भावसे पुस्तक हाथमें लेते ही पुरुष पर जादू सा असर होता है, विषय कषाय भाग जाते है बचपन जैसी निर्विकारता पास आने लगती है, मोह ममता के भार हटकर कुछ न कुछ हल्केपनका (निर्भार का) अनुभव मिलने लगता है।

यह तो कुछ दिन अनुभव करके भी देखा जा सकता है। अध्ययन हितकारी मार्ग है। बडे बडे आचार्य हम पूतो पर करुणा करके अपने पवित्र तपसे प्राप्त हुए अनुभव प्रकाशित कर गये है जो ग्रन्थोमें भरे है। उनके पढनेकी ओर अपनी दृष्टि न जावे तो यह कितना अपने आप पर अपना अन्याय है।

विद्या ही एक आत्माकी विभूति है। विद्या बिना आत्माकी कुछ शोभा नही है।

विद्या बिना मनुष्य जीवन बिलकुल बेकार है।

विद्याका फल अपनी आत्मामें देखना, बाहर में नही। यदि बाहरमें

फल देखा तो उसका फल दु:ख ही है क्योकि वह विद्या नही, अविद्या है।

बाह्य विकल्प सभी एक दम छोडदो, यह न सोचो कि ज्ञान छूट जावेगा। अनुपम अनन्तज्ञान इसी विधिसे प्रकट होता है। यह न सोचो कि आनन्द हट जावेगा। अनुपम अनन्त आनन्द इसी विधिसे होता है।

२८ नवम्बर १९५६

गोटे गावमें निम्नलिखित ने व्रत ग्रहण किया —

श्री मूलचन्द जी जैन	—	आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत
श्रीमति सौ० धर्मी ध० प० मुलायमचन्द	—	दर्शनप्रतिमा
सोना बाई	— वमोरया	,,
मझली बाई ध० प० कस्तूरचन्द जी वमोरया		व्रत प्रतिमा

—

नाथ! लोग कहा करते, आजकल सचका जमाना नहीं है, सच बोलो तो धन्धा ही नहीं चल सकता। सो ऐसा लोग ही कहते थे, मैं तो इसे सच नहीं मानता। अब तो हम ही पर भुगतान आगया, मैं सच कह रहा हू नाथ! भीतर मेरा यही चाहता कि कुछ नहीं चाहिये मुझे। तुम ही सदा बिराजे रहो उरमें मेरे याने कुछ भी पर विकल्प न उखडो। किन्तु ऐसी सचाई की बात मनमें उठती है तो भी विकल्प पिशाच ऊधम मचा डालते हैं तुम्हारे ज्ञानमें उल्टा ही झलक रहा है कहो नाथ! सचाई की यहा भी तुम कीमत न करोगे। प्रभो माफ करना। झुझलाहट में कह आया ऐसा। अपराध तो सर्वत्र मेरा ही मेरा है मेरे कार्यमें। ऐसी सन्मति मेरे रहे सन्मतिनाथ! अब भवभ्रमण शान्त होजाय। अनादि याने अनतकाल तो बीत गया, अब और क्या कसर रही। बस बहुत हो गया। अब तो गडबडी! फिनिश, समाप्त ऐण्ड, खतम, इति।

२९ नवम्बर १९५६

दु:खका कारण अभ्यतर में देखो अन्यथा जन्म व्यर्थ जायगा दु:खके कारणोकी छाट आदिमें आकुलित रहोगे। यह दुनिया अन्धेर नगरी है, यहा जिसे जो कुछ पुण्योदयसे मिला उसे वह सस्ता जानकर उसमें आसक्तिसे

भोगी बन रहा है परन्तु यह पता नही कि यह अन्धेरनगरी है इस सस्तेके लोभीको क्या क्या विपदायें आवेंगी। इस सस्तेके भोग का फल है आत्म-विनाश। भले ही अभी कुछ दिन विषय कषाय से अपने आपके पोषण की चाह करे किन्तु परिणाम इसका कटु ही है।

प्राणी मोहमें इतना बेशुध है कि सर्वत्र सर्वदा यह पाता तो है आत्मीय आनन्द गुण का आनन्द किन्तु मानता हे विषयका। इस कारण मोहोकी विषयोमें रति हो जाती है। जिसके विषयरति होती हे उसके दु:ख बना रहना प्राकृतिक बात है। वह विषयरत अपने दु:खमें उपाधिको कारण माने यह उसका कोरा भ्रम है।

मुक्त आत्मा हो या ससारी आत्मा, सभी भोगते है अपना आनन्द। बस जो इस मर्मको पा लेते है वे अनन्त आनन्द भोगते है और जो इस मर्मको न जानने के कारण विषयोमें आनन्दबुद्धि रखते हैं वे भोगते है सक्लेश।

वस्तु जैसा हे वैसा मान लिया जाय, लो होगया झगडा साफ। यदि अज्ञानकी ही हट रखी जाय तो हो गया कल्याण साफ।

३० नवम्बर १९५६

जब जब भी जो जो भाव तुम्हारे उत्पन्न हो रहा हो उस भावमें विश्वास मत करो। उसे सामने रखकर यह कहो निकल जावो परिणाम! तू मेरे दिलरूप नही है। तू तो अभी नष्ट ही हो रहा है यदि तुझमें रुचि करूं तो ससार के महाक्लेश सहनेके लिये मै सस्कृत बन जाऊगा सो दु:खोकी परम्परा मुझे सहना पडेगी।

हे विभाव! तुम मेरी स्वच्छता नही हो। मेरा तो स्वच्छता स्वरूप है। आये हो कर्मका उदय होने पर सो तुम औदयिक हो, बाह्य हो। मै चैतन्यमात्र हू। तुम्हारी रुचि मुझे नही हे। मोहियोके पास अड्डा जमावो। यहा आख लगाकर क्या करोगे? क्या लाभ! तुम भी परेशान हो रहे, मुझे भी परेशान कर रहे। जहा तुम निर्भयता पूर्वक रह सको वहा जावो। किन्तु मै यह ठेका नही दे सकता कि तुम किसी भी जगह निर्भयता पूर्वक रह ही लोगे। अच्छा तो यह ही है कि तुम अपनी कुटेव छोड ही दो अन्यथा जो भी

जीव अपना घर जान जायेगा वही तुम्हारे कान पकड निकाल देगा। तुम्हारी दाल यो नहीं गलती कि तुम एक प्राण होकर ही तो नष्ट हो जाते हो। तुम्हारा धन्धा तो तुम्हारी बिरादरी वालोंके भरोसे पर है और वे बिरादरी वाले भी सब तुम जैसे वे घर बार के हैं। पहिले अपना ही स्वरूप तो वे व्यवस्थित बना लो, पीछे घरबार की बात कहेगा। मोह। जावो बेटा ! तुम धोखे में पैदा होगये थे। अब अपने मामाके घर रहना। जहा तुम्हारा मामा इशारा करे उसके शिर पर चढना। यदि अपने आप कहीं ऊधम मचावोगे तो तुम्हारा नाम निशान भी न रहेगा। जावो, बेटा ! धीरे से निकल जावो। हमारे घर पैदा हुए थे इसलिये ग्रहवात से इतनी बात भी कर रहे। नहीं तो मुझे क्या जरूरत थी कि तुम्हारी ओर भी मैं कुछ ताकता। ॐ शुद्ध चिदस्मि, निर्ममत्वोऽहम्, चिदानन्दोऽह, सहजानन्दोहम्।

१ दिसम्बर १९५६

जो ध्रुव निज आत्मतत्त्वका परिचय पा लेता है वह धन्य है, उसके ससारके बन्धन नहीं रहते। ऐसा ज्ञानी पूर्वकृतकर्म के विपाक में गृहस्थोमें रहना पडता हो, विषय प्रसगमें आना पडता हो और प्रेम पूर्वक हो भी रहा है तो भी अन्तरग से उससे हटना चाहता है।

जैसे—तिजारी रोग वाला मनुष्य अत्यन्त कटु औषधि भी पीता है और प्रेमपूर्वक पीता है, समयपर औषधि न मिले तो वह झगडो को भी तैयार हो जाता है। इतना औषधिमें उसकाल प्रेम होनेपर भी वह अन्तरग में यही चाहता है कि यह औषधि कब छूट जावे। देखो ! यह वैराग्य और प्रेम सधान। अन्तरग मर्म तक पहुचने पर या खुद बीती बात होने पर यह सधान स्पष्ट हो जाता है।

वैसे विषय कषाय का उचित रोग वाला ज्ञानी गृहस्थ विपाक कटु भोग औषधिका सेवन करता है और प्रेम पूर्वक करता है। इतना भोगमें राग होनेपर भी वह अन्तरगमें यही चाहता है कि यह भोगसयोग कब छूट जावे देखो। यह वैराग्य और प्रेम का सधान। अन्तरग मर्म तक पहुचने पर य

खुद बीती बात होनेपर यह सधान स्पष्ट होजाता है।

२ दिसम्बर १९५६

प्रेमके साथ वैराग्य होनेके कारण ज्ञानी गृहस्थ के अन्याय में प्रवृत्ति नही होती है व प्रतिज्ञाके विरुद्ध प्रवृत्ति नही होती है।

मोही, अज्ञानी जीव की सब प्रवृत्तिया, मूलमें मोह विष होनेके कारण, आत्महननका कार्य करती है।

मोही और विवेकीमें मालिक मुनीम जैसा अन्तर है। ज्ञान का अतुल सामर्थ्य है। ज्ञान ही मात्र वैभव है अन्य कुछ वैभव ही नहीं जिससे यह कहा जाय कि ज्ञान सर्वोच्च वैभव है।

वस्तुत प्रत्येक वस्तु का वैभव उस ही वस्तु का असाधारण भाव है। विशेषेण भवतीति विभव विभवस्य अय वैभवः। परिणमती हुई वस्तुका परिणमन व सामर्थ्य वस्तु का वैभव है।

मेरा वैभव मेरे साथ है उससे किसी दूसरेको लाभ नहीं। अन्यका वैभव उस ही अन्यके पास है उससे अन्य किसी को लाभ नहीं।

परका सम्पर्क ही आत्मा का वैरी है। प्रत्येक वस्तु में परिपूर्ण है। किसी वस्तुका अन्य कोई कुछ नही लगता। प्रत्येक द्रव्य की सत्ता केवल से तादात्म्यावच्छिन्न है।

३ दिसम्बर १९५६

जीवन वह व्यर्थ है जहा वीतरागताका भाव नहीं, उद्देश्य नही। जीवन वह सार्थ है जहा पर्यायबुद्धि नहीं व सर्वविविक्त आत्मतत्त्वकी अभीक्ष्ण दृष्टि है।

समयका सदुपयोग वस्तुस्वरूपविषयक ज्ञान का अर्जन है। यदि यह कृत्य नहीं तो समय व्यर्थ गया जानिये।

समय का दुरुपयोग तत्त्वचर्चा बिना परसम्पर्क रखना है व गप्पें लगाना है।

ब्रह्मचर्यकी साधना परमसाधना है, परमतपस्या है। वीर्यबिन्दु शारीरिकशक्ति है, मानसिक शक्ति है, आध्यात्मिक विकास की शक्ति का हेतु है।

मन की गन्दगी व्यभिचार है। और वह गन्दगी जो वीर्यक्षरणका भी हेतु है महाव्यभिचार है।

व्यभिचारी के सदा पातक रहता है व्यभिचारी सदा पातकी होता है। इसका कारण यह है कि व्यभिचार महापातक है।

जैसे अध्यात्ममें सामान्य तत्त्व जो विशेषसे तिरोहित है उसकी दृष्टि सर्व शक्ति है। वैसे शरीरमें वीर्य जो सर्व धातुवो से तिरोहित है उसकी पालना सर्व शक्ति है।

४ दिसम्बर १९५६

लोकमें बाह्यका आदर है, बाह्यका अपमान है। अन्तरगका परिचय नहीं सो आदर तो क्या करे, परिचय नहीं सो अपमान ही अपमान हो रहा है और वह हो रहा है अपमान अन जानेमें अत यह बडी कठिनाई और विपत्ति की बात है।

हे आचार्य परमेष्ठियो! विराजो हृदयमें, बल दो मुझे आत्मतत्त्वका। तुम महापवित्र हृदय थे, ज्ञान, ध्यान और तपकी साधना की मूर्ति ही तुम थे। तुम्हारा साक्षात् दर्शन मगलमय था क्योकि अब भी तुम्हारा ध्यान मगलमय है। हे वनवासी, उदार आत्मावो। जिसके हृदय तुम्हारा स्वरूप विराजता है वह भव भ्रमण से मुक्त होनेका लेसेन्स पा लेता है।

हे सूरीश्वरो! तुम्हारा एक एक क्षण ज्ञानवासनासे वासित है। तुम्हारे देहका एक एक कण वैराग्यवासनाका सूचक है। तुम्हारे मनके एक एक अणु ध्यानकी सुरभि से धन्य हो गये थे। तुम्हारे वचनके एक एक वर्ण वचनचातुरोको अनुकरणीय होगये हैं। तुम्हारे रहनेका स्थान अहिंसासे मडित होगया था। तुम्हारे अवतारका समय कमनीय अलकृत होगया था। प्रभु धन्य हो! तुम सिह थे, नरसिह थे। अपने आचारोका वीरतासे पालन किया था।

५ दिसम्बर १९५९

स्वभाव और मुक्त ये दोनो उपास्य हैं। स्वभाव उपास्य निश्चयतः है और मुक्त उपास्य व्यवहारत. है।

इन दोनोके पर्यायवाची नाम निम्नप्रकार हैं —

कारणपरमात्मा,	कार्य परमात्मा ।
आत्मा,	परमात्मा ।
सदाशिव,	मुक्तात्मा ।
अनादिसिद्धपरमात्मा,	सादिपरमात्मा ।
चैतन्य,	शुद्धोपयोग ।
पुरुष,	ईश्वर ।
तुरीयपाद,	अन्त प्रज्ञ ।
सहजसिद्ध,	कर्मक्षयसिद्ध ।
परमपारिणामिक भाव,	स्वाभाविक भाव ।
अविकार,	निर्विकार ।
अपरिणामी,	शुद्ध परिणामी ।
ब्रह्म,	सिद्ध ।
सहजभाव,	निर्मल भाव ।
निराकार,	पुरुषाकार ।
मूलब्रह्म,	शुद्धब्रह्म ।
द्रव्यशुद्ध,	पर्यायशुद्ध ।
स्वभावसिद्ध,	चरमसिद्ध ।
निजनाथ,	जिननाथ ।
स्वयतत्,	स्वयंभू ।
असंसार,	नि संसार ।
सदामुक्त,	सादिमुक्त ।
सनातन,	चिरन्तर ।

६ दिसम्बर १९५६

प्रभुकी अनूठी भक्ति विषयकषायोका विनाश कर देती है। कमजोरी होने पर कमजोरी बढती चली जाती है। बल लगाने पर बल बढता चला जाता है। मनको विषयकषायोके अर्थ शिथिल कर देने पर शिथिलता बढती चली जाती है, इसी कारण तो अति क्रम से व्यतिक्रम और व्यतिक्रम से अतीचार व अतीचारसे अनाचार तक कितने मूठोके हो जाना है। मन को सवलभ बनानेपर वह पल प्रकट होता चला जाता है, तभी तो असयम से विविध सयमासयमोमें व सयमासयमसे विविध सयमो में प्रगति होती चली जाती है।

मनुष्य जन्म अति दुर्लभ है इसका सदुपयोग करते रहो, परिणामोको निर्मलताकी ओर बढाये चलो। जो आनन्द वैराग्यमें है, अकेलेमें हे, सर्व कुछ विचार–विकल्प हटा देने में है वह अन्यत्र कहीं है ही नही।

पदार्थके स्वरूप को तो देखो—प्रत्येक पदार्थ अखंड, अपने ही चतुष्ट-रूप है फिर एक पदार्थ का दूसरा कुछ होता ही नही है, हो ही सकता नहीं है।

बस अपना कुछ मत मानो। मौलिक विजय तो यह है। पश्चात् अपने आपको देखो--जो तरग–परिणमन–कषाय भाव हो रहे है वे औपाधिक हे बिना उपाधि निमित्तके उठते नही है, अत वे भी तुम्हारे कुछ नहीं है, हित नही है। उन सर्व विभावोसे मुख मोडे रहो द्वितीय विजय तुम्हारी यह है। इन दोनो पुरुषार्थो से तुम विश्वविजयी हो जावोगे।

७ दिसम्बर १९५६

जगत के ओर की दृष्टि समाप्त कर। धर्म अपने लिये किया जाता है। अपने हितके उद्देश्यसे धर्मक्रियायें धर्माचरण करते चले जावो। "जगत किसमें अच्छा कहता हे और किसमें कबुरा कहता है" इस तर्ककी होली कर दो बशर्ते कि स्वय धर्म करते हुए चले जाना है।

पवित्र और दृढ भावोसे अब अपना धर्म किये जा। तू ही तेरा साथी है तेरा किया हुआ तेरे आगे आवेगा। वह चाहे जगत की जानकारी में हो या

बेजानकारी मे हो। परिणामोकी निरन्तर सभाल रख। स्वभावदृष्टि की स्थिरता बढाय जा।

तू तूही है, तू देह नही है। देह तो अग्निमें भस्मकर ही दिया जावेगा। यदि कही अनजानी जगहमें या किसी परिस्थिति विशेषमें देह छूट जावेगा तो सभव है, कही गाड दिया जाय या गीधो आदि के द्वारा चूट खा लिया जाय। इसकी दुर्दशा निश्चित ही है। होवो, तुम्हारा कुछ नही बिगडता। तुम्हे तो चेतना चाहिये।

बढे चले आवो अपने आत्माकी ओर। प्रसन्न रहो निज एकान्तमें बसकर रहकर रमकर। जगत सब मायाजाल है, जगत तेरे विपदावोका निमित्त है। मत देख किसी पर वस्तुकी ओर। निज वस्तुका चमत्कार देख। चैतन्यतत्त्वकी दृष्टि का कितना अचूक चमत्कार है इस निजनाथके दर्शनमात्रसे राग द्वेष मोह आदि विपदायें सब नष्ट होती जाती है।

हे चैतन्य महाप्रभो! जयवत हो ओ।

८ दिसम्बर १९५६

आज १२॥ बजे दुपहरको गोटेगाव से करेली पहुचने के उद्देश्यसे चले। प्राय प्रत्येक पुरुष और महिलावोका रुदन देखा। धर्ममार्ग और धर्मानुरागकी अति में उचित समञ्जसता तो नही जचती। गोटेगाव समाजका धर्मानुराग प्रबल देखा। यहाकी समाज ने स्वय प्रवचनप्रसारके लिये ७५१) प्रवचनप्रकाशिनी समिति मेरठ को भेजे जिससे सर्व सस्थावोको अर्धमूल्य में मिल सकें। इनमें मुख्यनाम ये है— १११) श्री सि० वीरनलाल लखमीचन्द जी, १०१) श्री सि० मुन्नीलाल जी, १५१) श्री रतीलाल रामलाल जी।

गोटेगावसे चलकर शामको करकबेल पहुचे। यहाके भाई सिखरचन्द पिरपीचन्दजी ने साथ आये हुए श्रावकोमें जो न० २५ भाई ठहर गये थे उत्तम तत्कालिन भोजनव्यवस्था की।

शामको सभामें जैन अजैन सभी लोग एकत्रित हुए जीव स्वय ज्ञान आनन्दमय है, जीवके आनन्दका पापवृत्तिके कारण है। जो जीव पाप करना छोड देता है उसके आनन्दका कोई अपहरण नही कर सकता। दु ख गरीबी

का नहीं हुआ करता किन्तु दु ख मात्र पापपरिणाम का होता है। जो जीव अनन्त ज्ञान अनन्त आनन्द के स्वभाववाला है वह अपने स्वभावको पहिचान जाय और भोजन को तरसे यह कभी नही हो सकता। अनशन एक तप है और साधुचर्या भी एक तप है। आज प्रात १॥। बजे से चलकर जटसिहपुरा करेली १०॥ पहुचे।

जो जीव दुसरेके दिल दु खाने वाले परिणाम करता हे अथवा दूसरेके प्राण हरता है, उसे दु ख उसके परिणामके कारण हैं। यदि वह सबकी भलाई सोचे तो उसे स्वय अद्भुत आनन्दका अनुभव हो, अन्यका उसके प्रति आकर्षण हो।

६ दिसम्बर १९५६

जो जीव चुगली निन्दा करता है, अहित वचन वोलना वह स्वय के विपरीत अभिप्राय से दु खी है, स्वयका आत्मवल उसने नष्ट कर लिया इससे क्षोभ ही उसके हाथ हैं, जिसकी निन्दा चुगली की, झूठी वात कही उससे हानि पहुचेगी इसकी शल्यसे वह दु खी है। यदि सचाई का कोई व्यवहार रखे तो उसको क्षोभ नहीं हुआ करता।

जिसकी नियत व्यवहारसे परके अधिकृत वस्तु पर जाती है उस पर वस्तुके हथयाने की वात सोचता है वह अपनी इस तुच्छधारणाके कारण दु खी है। गरीवी कोई सकट नहीं। व्यवहारके उत्सव कोई ठाटसे न कर सके तो यह उसकी निन्दाकी बात नहीं है। निन्दा आत्माके अवगुणसे है। पर वस्तु पर विमल न डालकर अपने आप के आत्माके गुणोमें रुचि बढानेवाला आत्मा स्वत सुखी है।

कुशील जितनी बेवकूफी तो अन्य कुछ मानी नही जाती। परस्त्री व वेश्या आदि की दुर्वासना रखनेवाला सतत दु खी रहता। लौकिक आपत्तिया भी अनेक बन जाती है, इस दुर्भावनाके त्यागनें आनन्द ही आनन्द है।

तृष्णा परिग्रह भी दु खकी खान है। जो पुण्योदयसे, न्यायसे मिले उसमें सतोष रखना व यथाशक्ति उपकार सेवामें लगानेवाला आनन्दपथकी [illegible] है। फलितार्थ—जीव पापभावके कारण दु खी रहता है। जिसे

दु खी रहना दु खी न हो वह पापपरिणामका त्याग करे ।

१० दिसम्बर १९५६

आज्ञकी गत रात्रि याने कल की रातमें एक जगलमें ठहरे साथ में करीब १७–१८ श्रावक भी थे, सभीको व हमको उस वातावरणमें शान्ति प्रतीत हुई ।

आज सुबह ८॥ बजे करेली पहुचे । लोकोकी उमंगे धर्मानुरागको अधिक प्रकट कर रही थीं ।

धन तो क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरमें पडा होनेसे अधिक दूर हे, किन्तु तन मन वचन तो साथ ही लगे हुए है । यद्यपि यह त्रितय भी आत्मासे भिन्न है तथापि क्षेत्रान्तरित वस्तुवोकी अपेक्षा इन्हे सयुक्त कहा जासकता है । हे आत्मन् ! ये तीनो भी समाप्त होजाने वाले हैं । जब तक ये तेरे पास हैं, इनका सदुपयोग कर ले ।

तनसे तो जितना बन सके दूसरोकी सेवा कर । मन से दूसरे प्राणियो की भलाई की बातें सोचा कर । वचन से हित मित प्रिय भाव व्यक्त कर ।

अथवा तनमें रहते हुए भी तन से दृष्टि हटा । मनसे मनातीत निज-तत्त्वका ज्ञान प्रारम्भ कर मनका अवलम्ब छोड़ । वचनोसे उसकी ही चर्चा अन्तर्जल्पना कर जो वचनातीत है और फिर वचन के कष्टसे निवृत्त हो ।

श्री सि–मुन्नीलालजी गोटेगाव का परिणाम अब विशेषतया आत्मोन्मुख चल रहा है । श्री सि० लखमीचन्दजी (राजकुमारके पिता) गोटेगाव भी शुद्ध जिज्ञासा का बहुत आदर करने लगे हैं ।

गोटेगावके अनेक युवक गोटेगावसे चलकर करेली तक साथ आये । आये वे स्वय के प्रेमसे, व्यवहार चिल्लाता है कि अमुककी भक्तिवश आये ।

११ दिसम्बर १९५६

जो चीज अपनी नही उसे अपनी बनाना याने मानना सो चोरी है । लौकिक चोरी में भी तो यही होता है कि जो परके अधिकारमें चीज है उसे अपनी बना लेता है याने उठाकर अपने पास कर लेता है । तो वास्तविक स्वरूपनय की चोरीमें भी तो यही बात मोही करता है । एक निज आत्म-

तत्त्वको छोडकर बाकी सब पदार्थ पर है—शरीर, वस्त्र, मकान, धन, परिवार मित्र आदि सर्व पर है उनका स्वामी खुद का खुद ही है। प्रत्येक पदार्थ खुद ही खुद से अधिकृत है, किसी पर भी पदार्थको अपनाना, अपना बनाना, अपना मानना चोरी है। जो चोरी करता है उसे बन्धनकी शका बनी रहती है और वह बन्धनमें पडता भी है। अज्ञानभाव में, मोहमें निरन्तर जीव चोरी करता है। यह आत्मा प्रभु है अज्ञान भावमें वह चोरी करता है और यही अपने आपको दन्ड दे देता है।

परद्रव्य को अपना मानना यही सबसे बडा प्रधान अपराध है, क्योंकि, इस मोहभाव में आत्मानुभूति रूपी राध, राधा इस आत्माने आलिङ्गित नही है, जहा राधाका आदर नहीं है वही अपराध है। अपराध वाला जीव सशकित और सम्बन्ध होता है। निरपराधी नि शक रहता है।

यहा सर्व मोहका नाच है, जबर्दस्तीका ममत्वभाव है, फल कुछ नहीं निकलता और निकलता है तो विषफल। यहा दूसरेको कोई नही चाहता और न रहता है। सब स्वार्थ को ही चाहते है और स्वार्थ को ही रोते हैं।

१२ दिसम्बर १९५६

गोटेगाव

आज स्वर्गीय कस्तूरचन्द जी बडकुर के सुपुत्रोके यहा आहार हुआ। कस्तूरचन्द जी यहां के प्रेमी, प्रमुख एव धार्मिक पुरुष थे इनका समस्त परिवार भी सहृदय है। कस्तूरचन्द जी की स्मृतिमें इनके भाइयोनें व पुत्रोने दस हजार आत्मकीर्तन प्रकाशित कर वितरण करना जाहिर किया है। इसमें करीब २५०) व्यय होगे।

आत्मा अपनेको कुछ न कुछ अनुभवता रहता ही है। मोही अपनेको मनुष्य, स्त्री, पशु, धनी, पण्डित, मूर्ख, गरीब आदि रूपसे अनुभवता चला आया है, ये सब अशुद्ध अवस्थायें है। इन रूप के अनुभवसे आत्मा अपनेको अशुद्ध पाता है और अशुद्ध बनाता रहता है।

जो भव्य अपनेको शुद्ध एक चैतन्यमात्र अनुभव लेता है वह अपने को शुद्ध पाता है और शुद्ध बना लेता है।

लोकमें भी देख लो—किसीने अपने को यदि दद्दा हू अमुकका, ऐसा अनुभव किया तो मान्ने हुए बेटेकी खुशामद में अपने पुरुषार्थ को पतित करना पडो, इसी तरह अन्य अन्य सम्बन्धोकी बात सो चला।

आत्मा मात्र भाव ही करता है इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नही कर सकता है। भावमें ही सम्बन्ध का ख्याल बना कर ससारमें भ्रमण करता हे और भावमें ही निज चैतन्य स्वरूप का अनुभव कर समस्त दुख, बन्धनोसे छुटकारा पा लेता है। सर्व खेल भावका है अब क्या पसन्द है सो छूटनी करलो।

१३ दिसम्बर १९५६

जीव अकेला ही आया है और अकेला ही जावेगा, बीच के ये क्षण स्वप्नकी भाति है। स्वप्नका समय व्यतीत होते जैसे जाना नहीं जाता, शीघ्र व्यतीत हो जाता, इसी प्रकार स्वप्नके ये जागते दिन व्यतीत होने पर जाने जाते कि ये व्यतीत हो गये।

प्रत्येक मनुष्यको निम्नलिखित बातो पर दृढ सकल्प हो जाना चाहिये—

१ अपने जीवनके अन्तिम कुछ वर्ष गृह जालसे छुटकर सत्सगमें मात्र धर्म ध्यतीत होवें, इसके कुछ अपने गुजर लायक आय रखकर शेष सर्व परिग्रह गृहके उत्तराधिकारीको समर्पित कर देवे।

२. एक वर्षमें करीब २–३ माह बरसात के दिनोमें ज्ञानार्जन व धर्मपालन के अर्थ सत्सगमें व्यतीत करे।

३ ब्रह्मचर्यपालन, स्वाध्याय व शुद्धभोजनपर अधिक ध्यान देवे।

मनुष्योका संसर्ग वही चाहता है जिसके राग हो। इसी कारण मनुष्यो का ससर्ग करनेवाला निरन्तर रागवश परोपयोगी रहता है। परोपयोगीको जीवन क्षण व्यर्थ हो जाते हैं।

वैराग्य हुआ है जिसे उसे प्रिय होता है एकान्त
राग सताता है जिसे, उसे सुहाता है शान्त।

आज करेली से १२॥ बजे दुपहरको चले १२ मीलपर घमतरा देहात में रात को ठहरे। यहां सभा हुई जिसमें कई अजैनो ने, जो मास व शराब

का सेवन किया करते थे उसका त्याग किया।

१४ दिसम्बर १९५६

प्रात. खमतरासे चले नदी के रेलवेपुलपर १०–१५ गज दूर काम करते थे उनमेंसे कई पुरुषोने मास व शराब का त्याग दिया।

आज कल मासभक्षी एव मद्यपायी केवल शहरो में ही नहीं किन्तु देहातोमें भी अधिकतया पाये जाते हे। जिसके बल पर यदि यह कहा जाय कि हिन्दुस्तान में मास भक्षी ८० परसेन्ट हे तो यह सत्यही होगा बल्कि पाये तो इससे भी ज्यादह जाते होगे। परिचित सब देशोकी अपेक्षा तो ९० परसेन्ट से ज्यादह होगे।

जीवका उत्थान धर्म बिना हो ही नही सकता धर्म तो वस्तुत आत्म-बोधप्रतीतिचर्या हे। किन्तु इसकी पात्रता उस आत्मामें होती ही नही हे जो दयाहीन हृदयवाला हो। अत दया पालना आवश्यक कर्तव्य हे। मासभक्षी व मद्यपायी दयापालनेके भी मात्र नहीं हो सकते। सो मास व मद्यके सेवनका त्याग किये बिना इच भी उद्धार नहीं हो सकता।

कुछ लोग मास मद्यके त्यागमें बडी कठिनाई का अनुभव करते हैं, इस पर हे आत्मन् अचरज जरा भी मत कर, क्योकि जिनका होनहार उत्तम है ही नहीं फिर भविष्यमें, उनका भाव नहीं हुआ करता धार्मिक। ऐसे जीव तिर्यञ्च रतिमें भी पाये जाते हे। तिर्यञ्चोको देखकर तुम इतने आतुर क्यो नहीं होते, जितना मास भक्षी मनुष्यको देखकर होते।

—(०)—

१५ दिसम्बर १९५६

आज कर कपेलसे आहारोपरान्त चले व ५ मील पर माने गावमें ठहरे। यहा रुद्र प्रतापसिंह अच्छे काग्रेस वर्कर हुए हैं, उनके घर ठहरता हुआ, साथमें करेली वाले भाई भी १२–१३ जो करेली से पैदल चले आ रहे हैं ठहरे। यहा करेली वाले भाईयोने सभी ने तमाखू बीडी का त्याग किया रातके अन्नका, जो खाते थे, त्यागकिया, छने पानी पीने का नियम लिया।

रातको सभा हुई, जिसमें कई अजैनोने मास व शराब का त्याग किया।

ता० १५ शनिवार—सुबह ६॥। बजे मानेगांवसे चले और गोटेगाव सुबह ९ बजे आगये। यहा लोकोकी उमगें उत्साहपूर्ण पहिले जैसी हो दिखीं।

अनेको लोग धर्म पालन चाहते है, किन्तु खुदकी कमजोरी वश जैसा दिल चाहता है उस तरह उतर नहीं पाते। गोटेगावके सज्जनोका भी चातुर्मास के लिये बडा अनुरोध रहा। यह मै आत्मा केवल ज्ञातमात्र अपने आप को करता हू व अपने आपको भोगता हू, अनुभवता हू। इसके आगे न कुछ मैं करता हू, न कुछ मै भोगता हू।

यह मै आत्मा ही इस मुझ आत्माका हू इसके आगे अन्य कुछ भी नही है मेरा। कितना ही कुछ सोच डालू वहा भी मै कर रहा हू अपने आपको। परको न मै कभी कुछ कर सका और न मै कभी कुछ भोग सका। परको न अभी किञ्चिन्मात्र भी कर रहा हू न भोग रहा हू, कर भी नहीं सकता, भोग भी नहीं सकता, क्योकि एक द्रव्यका दूसरा द्रव्य न स्वामी है न कर्ता है।

१६ दिसम्बर १९५६

आज २ बजे जबलपुर के लिये चले, लोगोका धर्मानुराग अतिमहान था।

प्रत्येक पदार्थ अपने ही चतुष्टयसे है। एक परमाणु भी दूसरे परमाणु का कुछ कर सकता नहीं है। क्योंकि प्रत्येक अणु स्वतन्त्र सत् है। लोहे जैसे घन स्कन्ध में भी एक परमाणुका दूसरा परमाणु जो पास ही ठसा है कुछ नहीं है न कुछ करता है। प्रत्येक द्रव्यका परस्पर में अत्यन्ताभाव है।

आत्मन्! अब देता, तेरा जगत में क्या है? जिसके परिवर्द्धनसे तेरा परिवर्द्धन होगा? जिसके सुधारने से तेरा सुधार होगा।

पर्याय भी तो तू नहीं है, लोगोने पर्यायका नाम रख रखा था तुझ द्रव्यका, देता। नाम इस लिये रखा जाता है कि अनेको में से एक को छाट

लिया जाय, बुला लिया जाय, सकेतित कर लिया जाय। किन्तु तुझ द्रव्यका तो ऐसा स्वरूप है जैसा कि प्रत्येक आत्मा का। परिणमन की अपेक्षा से वह भिन्न नहीं है। आत्म द्रव्य तो एकसा ज्ञानदर्शनसामान्यस्वरूप है। फिर इसकी छटनी कैसी होगी, विशिष्ट आत्मा को कैसे सकेतित किया जा सकता है। लोगो ने जो नाम रखे है वह पर्यायके ही नाम रखे है। सो पर्याय के नामसे तुझे क्या मिलेगा ? बल्कि पर्यायके नाम की गृह होनेसे दुर्गति ही मिलेगी। मरने के बाद यह नाम भी धरा रह जावेगा।

१७ दिसम्बर १९५६

आज रविवार शाम को पिपरिया पहुचे यहा १ घरके ३ घर है, इनका धर्ममें बहुत उत्साह है, ५० आदमियोका प्रीति भोज किया। प्रात आहारोपरान्त चलकर २॥ मीलपर नर्मदा तीर पर सामायिक की।

प्राभृत—किसी विषयक प्रमाणका याने ज्ञानका धारण पालन जहा हो उसे प्राभृत कहते हैं।

प्रकृष्ट आत्मावोके द्वारा जो व्याख्यान किया गया हो वह प्राभृत है।

आज शाम सहजपुर आगये। सहजपुर तो निज आत्मा है। इस सहज नगरमे वसनेवाला सहज आनन्द पाता है। सहजभावसे दूर भगनेवाला आत्मा असहज–औपाधिक भावमें पतित होजाता है।

जिस जिस परिणामका तुम्हे ख्याल रहे, विकल्प रहे उस उस परिणाम को आगे रखकर कहो—यह वर्तमान परिणाम, मैं नहीं, यह तो उपाधिका प्रतिबिम्ब है। जावो, निकलो मैं तो सुरक्षित ध्रुव चेतन हू।

आत्माका स्वभाव चैतन्य है। चैतन्यका काय प्रतिभासना है। प्रतिभासना २ प्रकारका है—१. अन्तरङ्ग, २. बहिरङ्ग। अन्तरङ्ग प्रतिभास दर्शन है और बहिरङ्ग प्रतिभास ज्ञान है। सबका भाव यह हुआ कि आत्मा का कार्य देखना जानना है। आत्मा तो देखता जानता है। यदि कोई मोहभाव से देखता जानता है तो मोहसे उपरक्त होजाता है। यदि कोई रागभावसे कुछ देखता जानता है तो रागसे उपरक्त हो जाता है। यदि कोई द्वेषभावसे कुछ देखता जानता है तो वह द्वेषभाव से, उपरक्त हो जाता है। यही

रङ्गीलापन जीवका बन्धन है। इस बन्धनसे छुटकारा पानेका उपाय स्वभाव दृष्टि है।

१८ दिसम्बर १९५६

आज आहारोपरान्त ११ बजे जबलपुर को चले। ११॥ बजे से जगलमें सामायिकके लिये बैठे। सामायिकमें चित्त विशेष नहीं लगा।

ज्यौं ज्यौं जबलपुर शहरके समीप पहुचना हो रहा, चित्तसे प्रसन्नता भाग रही है। कस्बो का रहना त्यागियो के भाववृद्धिका बाह्यसाधन जैसा है वैसा चतुराईपूर्ण शहरका निकट नहीं है।

जबलपुर के कार्यकर्तावोका उत्साह तो यद्यपि पर्याप्त दिख रहा है। पुनरपि प्राकृतिक अनुरागकी मन साक्षी नही देता।

करीब ३॥ मीलसे बेण्डवाले लगातार अपना काम करते चले जा रहे थे। मैंने कहा भी कि भाई बहुत दूर है इन्हे परेशान न करो, बिना बजाये इन्हे चलने दो। किन्तु बातकी उपेक्षा कर दी।

जैसे कोई गृहस्थ गायको गिरमासे बाध देता है तो वहा बन्धन तीन प्रकारसे दिखते हैं — १. गायका बन्ध, २ गिरमाका बध, ३. गाय गिरमा दोनोका बन्ध।

गायकी स्वतन्त्रताकी हानि गायका बन्ध है। गिरमा के एक छोरसे गिरमा का दूसरा छोड़ जकड दिया है यह गिरमा का बन्ध है। गाय और गिरमाका परस्पर निमित्तनैमित्तिक बध दोनोका बन्ध है।

इस ही प्रकार जीव, कर्म में भी बन्ध ३ प्रकार का है— १. जीवबध, २ कर्मबन्ध, ३ उभयबन्ध। जीवका राग व रागमें उपयोग होना जीवबध है कर्म परमाणुवोमें कर्म परमाणुवोका बन्ध होना कर्मबध है।

१९ दिसम्बर १९५६

जीवका व कर्म परमाणुवोका निमित्तनैमित्तिक पारतन्त्र्य व एक क्षेत्रावगाह होना उभयबन्ध है।

जीवकी सबसे महती विपत्ति परोपयोगता है। परपदार्थसम्बन्धी विकल्प याने फोकटके कामसे ही जीव बदनाम है।

जीवका निजस्वरूप जीवका घातक नहीं, जीव से बाहरका अर्थ जीवका घातक नहीं।

जीवका विभाव जो कि न जीवका निजस्वरूप है और न जीव से बाह्य तत्त्व है वह जीवके गुणों का घातक है, विकारक है।

ससार दु खका सागर है, ससार भाव स्वय दु खरूप है। वह ससार मलिन आत्मा ही तो है।

मोक्ष आनन्द का सागर है, मोक्षभाव याने केवलानुभव स्वय आनन्द-रूप है। वह मोक्ष निर्मल आत्मा ही तो है।

चाह की दाह है, क्लेशमय राह है। ससारका इसमें अवगाह है। शांतिसे इसकी डाह है। इसकी कहीं न थाह है। दुनिया में इसकी ही वाह वाह है। चाहके नाशक ही सच्चे शाह है।

आत्मन् ! तू तो अपने चतुष्टयका ही स्वामी रह सकता है, स्वचतुष्टय के बाहर तो तू शून्य है, असत् है, रच भी तो सम्बन्ध नहीं फिर किसी को अपने पेटमें रखना उन्मत्तपने। नहीं तो और क्या है।

२० दिसम्बर १९५६

प्राणियो की देह में हितबुद्धि हो रही है यह ही महती विपत्ति है। यद्यपि देह का व आत्माका संसार अवस्थामें निमित्तनैमित्तिकरूप बन्ध व एक क्षेत्रावगाह है तथापि देहके सर्व अणुवोका आत्मा में अत्यन्ताभाव है, आत्मा का सर्व अणुवोमें अत्यन्ताभाव है।

हे आत्मन् ! करले सुबुद्धि। निजको निज परको पर जानले। विकल्प को छोड निर्विकल्प निज स्वभावमें विश्राम ले। अन्यथा क्लेशोका ताता लगा रहेगा।

हित ! प्रिय ! आनन्द ! मानले अपने को ऐसा ही। तू तेरेको सर्वस्य है। तुझमें तेरी कोई कमी नहीं है। तुझसे ही तेरे सारे काम चलते हैं। सर्व आशा तज। सर्व तृष्णा तज। दुर्मति समाप्तकर। पर्याय बुद्धि की होलीकर। अनादि से अब तक बडा दु ख सहा है अज्ञानमें। अब अपने अमूर्त शुद्धजी-वास्तिकायको देख। अब अपने शुद्ध जीव पदार्थको देख। अब अपने शुद्ध जीव

द्रव्य को देख। अब अपने शुद्ध जीव तत्त्वको देख।

देख देख खुद को इस स्थिरतासे कि अन्य अन्य कुछ प्रतिबिम्बित हो तुम्हारे राग बिना, उद्यम बिना।

वीतराग भावका अनुभविता ही उत्तम होनहार वाला है।

२१ दिसम्बर १९५६

रे स्वय ! अब रच भी न भटक अपने से बाहर।

रे स्वय ! अब रच भी न विचल अपने से बाहर।

रे स्वय ! अब रच भी न भोग अपने से बाहर।

रे स्वय ! अब रच भी न सोच अयने से बाहर।

रे स्वय ! अब रच भी न समझ अपने से बाहर।

रे स्वय ! प्रव रच भी न जान अपने से बाहर।

प्रिय हित आत्मन् ! यह तेरा स्वभाव ही है कि यदि अपनेसे बाहरको उन्मुख हुआ तो क्षुब्ध होता है और अपनेसे बाहरको उन्मुख नहीं होता तो शान्त रहता है। जैसे समुद्र अपने निष्कम्प समतलसे बाहर हो तो क्षुब्ध होता है, तरङ्गित होता है, न बाहर हो तो सम अक्षुब्ध व्यवस्थित रहता है।

मायाचार बहुत विकट शल्य है। कुछ उन्नति कर जाने पर जो आत्मा गिर जाते है उनके पतन का कारण मायाचार है। यह पतन चाहे अन्य लोको की समझमें आवे चाहे न आवे।

पतन पतन ही हे। वह क्लेशका कारण ही है। जब शरीर तू नही है फिर शरीरमें रहनेकी इच्छा छोड। शरीरमें रहकर भी जो शरीर की इच्छा नहीं करते वे शरीर परिग्रह से रहित है। रही शरीर आत्माके एक क्षेत्रावगाहकी बात, सो वह पदार्थोके साइसकी, निमित्तनैमित्तक भावकी बात है। इच्छा नष्ट हुई कि सब गलती समाप्त हुई।

२२ दिसम्बर १९५६

इच्छा रहित पुरुष निरपराध हे। इच्छा ही सर्वकषायोकी जननी है। यद्यपि इच्छा लोभ कषायका ही अश है तथापि एक अशका सर्व अशोके मुकाबिले विवक्षावश भेद है।

इच्छाके अनुकूल वाह्य परिणमन न होनेपर व खुदका भी परिणमन न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है। वाह्य तो वाह्य है। बाह्य का परिणमन उस ही वाह्य द्रव्यके आधीन है, उसकी ही वह दशा है। इस भेदविज्ञानरूप सम्यग्ज्ञानके बिना वाह्यके परिणमाने की इच्छा नष्ट नहीं हो सकती और इच्छाके विनाश विना क्रोधके प्रसग समाप्त नहीं हो सकते।

जिनकी जैसी इच्छायें है उन इच्छाओमें से कुछ इच्छायें बाह्य परिणमनके अनुकूल मिल जायें तो उनको वहा मानकषाय उत्पन्न हो जाता है और उस मानकषायके आवेगमें इतना मानमें वढ जाता है अन होते परिणमन भी करा लेना चाहता है। फल यह होता है कि बाह्य परिणमन कुछ इसके आधीन तो है नहीं, कुछ तो अचानक समानता मिल गई थी, किन्तु वह प्रासगिक पूर्वके भ्रममें रहता है सो इच्छा पूर्तिके अभाव में अपना महान् अपमान समझने लगता है।

२३ दिसम्बर १९५६

आज सि० मुन्नीलालजी गोटेगाववालोको गृहकार्यवश गोटेगाव जाना पडा। यह भव्यमूर्ति है। आत्म ध्यानसे इन्हे वडा अनुराग है। इनके जानेके आधा घण्टा पश्चात् सि० लक्ष्मीचन्द्रजी सुपुत्र सि० वीरनलालजी गोटेगाव वाले आये। यह शुद्ध विचारका मानव हैं। धर्मकी ओर अनुराग इनका अधिक हो रहा है।

धर्म आत्माका स्वभाव है और अधर्म आत्माका विभाव है। अधर्म से तात्पर्य कुधर्मका है। जिन जीवोको बाह्य पदार्थ रुचिकर होते हैं उसका अर्थ यह समझना कि उन जीवोको खुद का कुधर्म रुचिकर हो रहा है। इसका कारण यह है कि कोई द्रव्य किसी द्रव्यका कुछ कर्ता भोक्ता नहीं है। जो जीव जो करता है वह उसका अपना ही परिणमन है। तब रुचि भी जीव अपने स्वात्मासे बाहरमें कर सकता नहीं है।

इसी प्रकार जिन जीवोको विशिष्ट धर्मी महात्मा व परमात्मस्वरूप रुचता है उसका अर्थ यह समझना कि उन्हे अपना धर्म रुचता है।

कोई आत्मा धर्ममें ठहरा है तो कोई कुधर्ममें ठहरा है। इसके

अतिरिक्त अन्य किसी में ठहर ही नही सकता कोई भी।

उपयोग में अन्य पदार्थ स्थान न पावे तो ध्यान को उत्तम होना ही पडता है। अत उत्तम ध्यान में जाता चाहनेवालोका कर्तव्य है कि ऐसा उपयोग बनावें कि वहा अन्य पदार्थके स्मरणका अवकाश ही न मिले। वह पुरुषार्थ है स्वभावदृष्टि ।

२४ दिसम्बर १९५६

अपने देहकी ओर सकेत करते हुए कहे, सोचे कि यह पर्याय मै नही हू यह सूरत मै नहीं हू, यह रंग, ढग, क्रिया मेरी नही है। मै वह हू जो सर्व-समान है, सर्व समान सर्व में अन्तर्निहित और विलीन होती है सो सर्वसमान का यश ही क्या है। जिसके हृदयमें एक साथ सर्वका एक यश है उसीमें मेरा शामिल है। वह सामिल ही क्या जो सा मिल=मिल सा गया है। नाम तो वहा होता है जहा अन्यसे विशिष्टता मालूम पडे।

अपने विभाव की ओर सकेत करते हुए सोचे कि यह राग द्वेष आदि मै नही हू, यह आवेग, यह क्षोभ, मै नही हू। मै वह भाव हू जो सर्वसमान है—चैतन्यभाव, जो सर्व में अन्तर्निहित और विलीन है। सर्वसमान की कीर्ति क्या है। जिसके उपयोग अपने स्वभाव की कीर्ति है वही सर्व की कीर्ति है उसीमें मै सामिल हू। वह सामिल ही क्या ? जो सा मिल=मिलसा गया है। यह स्वभाव ही सबका मूल कर्ता है। सर्वका स्वभाव सर्वका सृष्टिकर्ता है। सर्वरूप स्वभाव सबका ईश्वर है। वह स्वभाव आवान्तर सत्ता से अनेक है और महासत्तासे एक है। ॐ चिद् ब्रह्म अस्मि।

तत्त्व साल्लदादिक सन्मात्रे वा यत. स्वतः सिद्ध तस्मादनादिनिधन स्वसहाय निर्विकल्प च।

२५ दिसम्बर १९५६

एकान्तावास के आनन्दको मौन परिवर्द्धित कर देता है। जितना बाह्यससर्ग कम होगा यदि ज्ञानी है तो उसकी आत्मरुचि बढती जावेगी।

वास्तविक आनन्द आत्मोन्मुखतामें है। यह सत्य है या नहीं यदि इसका निर्णय करना हो तो यथाविधि चलकर आत्मोन्मुख हो लो, वहा आनन्द न

मिले तो फिर तर्क करना।

आत्मोन्मुख हुए विना उस स्थिति के आनन्दके विरुद्ध जीभ हिलानेका अधिकार ही नहीं है अधिकारीको ही बात करना उचित है।

अनात्मोन्मुखतामें तो प्रत्येक क्षण विपदा ही है। विपदा कुछ अन्य नहीं है, केवल विकल्प ही हे। दुनियाके लोग और कर ही रहे क्या ? यही याने मात्र विकल्प। परका तो प्रत्येक में अत्यन्ताभाव है।

विकल्पमें क्षोभका होना प्राकृतिक हे। क्षोभ ही विपदा है। सो समस्त क्षोभका अभाव चाहनेवालोको निर्विकल्पका उपयोग रखना चाहिये। निर्विकल्प के उपयोगमें उपयोग भी निर्विकल्प हो सकता हे। निर्विकल्प परमात्मा व निर्विकल्प उपयोग भी कथचित् सविकल्प हे और कथचित् निर्विकल्प है, किन्तु सामान्यदर्शनज्ञानात्मक सामान्य आत्मा, परम चैतन्य स्वभाव, परमपारिणामिक भाव, कारण परमात्मा आदि शब्दो द्वारा सकेतिक अर्थ निर्विकल्प ही है वही ब्रह्म, निराकार, निर्गुण आदि शब्दो द्वारा से केलित है, उसका ध्यान करो और करो परमशुद्धनिश्चय नयकी विधिसे।

२६ दिसम्वर १९५६

ब्रह्मचर्यकी साधना तपो में उत्तम तप हे, और स्वभावदृष्टिकी साधना समाधियोमें उत्तम समाधि है।

भूख प्यास आदिका दुख मिटाकर दूसरो के सक्लेश कम कर देना लौकिक परोपकार हैं और आत्मा व अनात्माके भेद व स्वरूपके उपदेश द्वारा आत्मावो के उनके निजके स्वभावकी दृष्टि होने देना अलौकिक परोपकार है।

किसी भी समय दुर्भाव न हो सके ज्ञानावलम्वन द्वारा यह दृष्टि फलीभूत करना महा पुरुषार्थ है।

पर्याय क्षणिक हैं उसका मोह अनेक पर्यायोका सतान वना देता है।

पर्याय मै नहीं हू, पर्याय क्षणिक है मै ध्रुव हू। पर्याय मै नही हू, पर्याय नैमित्तिक है मै अनैमित्तिक हू।

पर्यायकी दृष्टि अपूर्णकी दृष्टि है, द्रव्यकी दृष्टि पूर्णकी दृष्टि है।

रे आत्मन्! वतातो तेरा यहा कुछ है? क्या शरीर तू है ? तेरा है ?

वर्तमान भाव जो हो रहे हैं क्या ये दूसरे क्षण भी साथ रह सकते हैं ?

अरे प्यारे प्रभु ! तू तो मात्र चैतन्यस्वभाव है जिसकी दृष्टि होने पर तेरा व्यक्तित्व तेरे उपयोग में न रहेगा। हा स्वभावानुभूति जरूर होगी किन्तु अनुभव आनन्द का रहेगा विकल्प का सत्त्व न रहेगा।

२७ दिसम्बर १९५६

आत्मा का उद्धार जल्दी करो। विभाव बडा धोका है। विभाव जब होता है तो प्राय यह ही लगता है कि विभाव ही हित है, विभावसे ही सुख है। किन्तु यह धोके का कुवां है।

प्यारे चैतन्य प्रभो ! मेरे चैतन्य नाथ ! सतत उपयोग में रहो। हे प्रियतम ! हे हिततम ! तेरे उपयोगमें न रहनेसे कितनी विभाव विपत्तियां आ गिरती हैं। तुम्हे अपने पुत्रको अपनी छत्रछायामें रखना चाहिये।

भले ही मैं कुपूत निकला, सही बात, अपराध है; किन्तु यह तो बता वो निकला तो तुमही से हू हे चैतन्य महाप्रभो !

हे सच्चिदानन्द ! तुम्हारी महिमा अपार है। चाहे, तुम्हारी महिमा पर ली जावे किन्तु कही तो कभी जा ही नही सकती।

समय पहाडी नदीके वेगकी तरह बह रहा है। पर्याय भी इसी प्रकार बह रही हैं। इसकी क्या परवाह यह तो वस्तुका स्वभाव है। किन्तु क्लेश तो इस बात का है कि यदि स्वभावदृष्टिकी पर्याय न वही तो दु खपूर्ण पर्यायोका ताता लगा रहेगा।

स्वभावदृष्टि रूप पर्यायके प्रवाह होजाने की योग्यता प्राप्त है। इस योग्यतासे लाभ न उठा पाया तो बडी ही क्षतिकी बात है।

२८ दिसम्बर १९५६

पर पदार्थ की बात मत सोचो — जो सोच रहे हो वह पर पदार्थकी बात है। पर पदार्थकी स ता तुमसे अत्यन्त पृथक् है। पर पदार्थमें तुम्हारा कुछ वश चल ही नही सकता है और न तुममें किसी पर पदार्थका कुछ वश चल सकता।

तुम अपने ही भाव बनाते हो परका कुछ भी नही। एक द्रव्य दूसरे

द्रव्यका कुछ भी नही कर सकता । कैसे कुछ करे आखिर सबकी सत्ता सबके स्वयके एक एकमें है । प्रत्येक का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उस ही एक में रहता है, तन्मय है ।

कुछ भी कोई सोच ले बस ! विचारकी पर्यायका अध्रुव सग तो होगया इससे आगे और कुछ नहीं होता ।

मै अपने को ही कर रहा हू, बाह्य का कुछ भी नहीं कर रहा हू । अपनेको जिसरूप बनाता हू वैसा ही फल तत्काल पालेता हू और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की दृष्टिसे जो कार्माण वर्गणावोका सचय हो जाता है उसके उदयकालमें भविष्यमें उस अनुरूप और भी फल पाऊगा जो कि वास्तवमें उस ही भविष्यके परिणामका तात्कालिक फल होगा ।

हे नाथ ! हे जिननाथ ! हे निजनाथ ! प्रसीद, प्रसीद, प्रसीद ।

२९ दिसम्बर १९५६

जिसका ध्यान सर्वोच्चध्यान है, जिसकी मग्नता परमसमाधि है, जिसकी दृष्टि परम तपस्या है, जिसके आश्रयसे कर्म रुकते हैं तथा कर्म करते हैं वह कारण परमात्मा तुमही तो हो । हा वह कारण परमात्मा दिखेगा, मिलेगा दिखने मिलनेकी ही विधिसे ।

जिसकी सतत साधना करना योग है, जिसके चर्चाकी परम्परामें ब्रह्माद्वैत, ज्ञानाद्वैत, सृष्टिकर्तत्व आदि अभिप्राय पुष्ट हुए हैं, जिसके लिये अनेक प्रकारसे ईश्वरकी कल्पनावोका श्रम किया जाता है वह ईश्वरीय ऐश्वर्य तुमही तो हो । हा उसका पता व अनुभव होगा पते व अनुभव की विधिसे ।

हे आत्मन् ! तुम ज्ञान और आनन्दसे भरपूर हो । कहीं भटकनेकी आवश्यकता नहीं । भटकने से कहीं कुछ मिलेगा ही नहीं, प्रत्युत जैसे ही भटकावोगे उपयोगको वैसे ही ज्ञान व आनन्द दूर होता चला जावेगा ।

तुम ही कर्ता हो, तुमही करण हो, तुम ही कार्य हो और तुम ही कार्य-फल हो । तुम्हारी दुनिया तुम ही हो । तुम्हारा कार्य तुम्हारे ही प्रदनमें है । तुम्हारा किसीसे रच भी सम्बन्ध नहीं है । कैसे हो तुम्हारी सत्ता सबसे पृथक् है ।

३० दिसम्बर १९५६

एक पदार्थ दूसरे पदार्थके परिणमनसे नहीं परिणम सकता है यदि असम्भव भी कल्पना कर ली जाय तो पदार्थ सब मिट जायगा, शून्य हो जायगा। किन्तु शून्य तो प्रतीत हो नही रहा। है सब है यही तो प्रमाण है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का न कुछ कर सका, न कुछ कर रहा है न कुछ कर सकेगा।

आत्मन्! मस्त रहो अपने आपमें, छूट जायगी सब व्याधिया अपने आप।

आत्मन्! मात्र आत्मस्वरूपका विचार करो, छूट जायगे अहकार ममकार अपने आप।

आत्मन्! देखते रहो अन्तरमें अन्तर्ज्ञान द्वारा अपने आपको, छूट जायगी सबव्यथा अपने आप।

हे प्रियतम! हे प्राणवल्लभ! हे हिततम! अब तो दुखका अन्त आ ही जाना चाहिये। तुम्हारी चर्चा करनेवालेकी विपत्तिया समाप्त हो जाती हैं फिर तो रटन लगानेवाले की विपत्तिया दूर न हो यह कैसे न होगा, तुम्हारी ओर ही दृष्टि किये रहने वालेको परम आनन्द ज्ञान न हो यह कैसे हो सकता।

हे आत्मन्! दृढ़ रहो इस ही अपने आप की ओर बने रहने पर। सर्व अन्य काम विफल सी रहेगें, किन्तु यह आत्म साधना का उपाय विफल कभी हो ही नहीं सकता।

३१ दिसम्बर १९५६

आज वह वर्षका सुअंतिम दिन पूर्ण हो रहा है। इस वर्षमें जो असफलता रही जो विभावतति रही उसका खेद है। समय तो गुजर गया किन्तु यदि मात्र निजसाधना के सद्भावोमें समय गुजरता तो आज तुम्हारे पास कुछ आत्मीय वैभव रहता भी। विभावोकी पर्यायसे गुजरनेपर कुछ भी हाथ न रहा और रहा हाथ तो व्यग्रताकी योग्यता।

कुछ न कर सका किन्तु क्या करना है इसका ध्यान बना रहा यही भी